दो शब्द

पुस्तक के लेखक पं० जगदीशनारायण दीक्षित एम० ए० ने 'प्रसाद' के नाटकों और विशेषकर उनकी चरित्र-चित्रण शैली का गम्भीर अध्ययन किया है। प्रस्तुत पुस्तक में दीक्षित जी ने 'स्कन्दगुप्त' के नाटकीय पात्रों के चरित्रों की आलोचनात्मक समीक्षा की है। आशा है पुस्तक स्कन्दगुप्त के पाठकों और विद्यार्थियों के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगी। लेखक की दूसरी पुस्तक 'प्रसाद' के नाटकीय पात्र, जिसमें 'प्रसाद' के समस्त नाटकों के पात्रों के चरित्र-चित्रण का विशद और विवेचनात्मक अध्ययन किया गया है, शीघ्र ही पाठकों की सेवा में प्रस्तुत की जायगी।

विनीत—

प्रकाशक

चरित्र चित्रण की शैली

मानव मनोवृत्तियों का यथावत् एवं सूक्ष्म चित्रण करना ही नाटक का प्रधान लक्ष्य होता है। यदि यह कहा जाय कि चरित्र चित्रण ही नाटक का प्राण है तो कदाचित् अत्युक्ति न होगी। नाटकीय पात्रों का चरित्र मानव-हृदय की विभिन्न अनुभूतियों, जीवन की विविध दशाओं, तथा अनेक लोकादर्शों का संवहन करता है। मिस्टर हेनरी आर्थर जोन्स का यह कथन सर्वथा समीचीन एवं सम्मान्य है :—"Story and incident and situation in theatrical works are, unless related to character, comparatively childish and unintellectual." अर्थात जब तक नाटकीय कथानक, घटनाएं, और परिस्थितियाँ चरित्र से सम्बद्ध नहीं होती, तब तक कोई भी नाटक अपेक्षाकृत दृष्टि से बुद्धिहीन बाल-प्रयास ही माना जायगा। वास्तव में चरित्र-चित्रण ही नाटकों का अनिवार्य और स्थाई तत्त्व है और उसीसे उनकी महत्ता और गौरव प्रकट होते हैं। शेक्सपियर के नाटकों का स्थायित्व और महत्व कथानकों की अनेकरुपता और विशेषताओं के कारण नहीं है, वरन् वह उन नर-नारियों के चरित्रों के कारण है जो उनमें अत्यन्त स्वाभाविकता के साथ अङ्कित हैं; इसीसे वे अँग्रेजी साहित्य की अमर निधि हैं।

'प्रसाद' के नाटक हिन्दी साहित्य के अनुपम रत्न हैं। उनमें कथानकों की विशेपता, मनोहर दृश्यविधान, तत्कालीन संस्कृति का

सम्यक् निदर्शन, भावपूर्ण कथोपकथन तथा सरस संगीत आदि तो हैं ही, किन्तु सबसे अधिक आकर्षण एवं प्रभाव की वस्तु उनका सजीव चरित्र-चित्रण है।

'प्रसाद' जी आधुनिक हिन्दी-साहित्य के महान कलाकार थे। उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा ने उच्चकोटि के काव्य, उपन्यास, आख्यायिका और नाटकों से हिन्दी-साहित्य के भांडार की श्रीवृद्धि की। उनकी अधिकांश रचनाएं अनुभूति की गहनता और अभिव्यक्ति की उत्कृष्ट कलात्मकता से साहित्यिकों का कंठहार हैं, तथा उनके नाटक ऐतिहासिक कथानकों एवं सजीव चरित्र-विधान द्वारा लोकरुचि को अपनी ओर आकृष्ट करने में विशेष सफल रहे। वस्तुतः 'प्रसाद' ने अपने नाटकों में ऐसे पात्रों की सृष्टि की जो अमर हैं तथा इसके कारण-निर्देश में हम प्रो० नगेन्द्र जी के इस कथन से सर्वथा सहमत हैं कि 'प्रसाद' में "पात्रों में प्राण फूँक देने वाली प्रतिभा की सजीवता अद्वितीय थी।"

'प्रसाद' के गम्भीर एवं भावुक व्यक्तित्व की छाप उनके अधिकांश पात्रों पर है। सुख दुखः की धूपछाँह में उन्होंने जीवन की जो वास्तविकता देखी वह उनके पात्रों के चरित्र में आदर्शरूप से वर्तमान है। 'प्रसाद' के दार्शनिक चिन्तन का आधार बौद्धदर्शन और उपनिषदों का स्वाध्यायजन्य ज्ञान था। उनकी भावुकता का स्रोत जीवन का सतत संघर्षमय प्रवाह था। हम उनके पात्रों के चरित्र-विकास में उनकी इसी दार्शनिकता और कोमल भावुकता का

मणि-कांचन संयोग पाते हैं। 'प्रसाद' की दार्शनिकता मानव-हृदय-संवेद्य है। भावुक कोमलता का समन्वय होने के कारण उसमें कोरी दार्शनिकता का रूखापन नहीं है। उनके दार्शनिक आदर्श, पात्रों के व्यक्तित्व में क्रियमाण होकर, सवाक् एवं सरूप हैं। उनकी मुखर से मुखर दार्शनिक उक्तियाँ कोरे उपदेश पाठ नहीं हैं। अनुरूप व्यापार से समन्वित होने के कारण उनमें हृदय के छोर तक पहुँचने की शक्ति है। उनके गौतम की यह वाणी झांझ की कोरी झनकार नहीं है-"शुद्ध बुद्धि की प्रेरणा से सत्कर्म करते रहना चाहिए। दूसरों की ओर उदासीन हो जाना ही शत्रुता की पराकाष्ठा है।" मागन्धी की वासनामयी ईर्ष्यालु प्रकृति को पहिचान कर भी गौतम उसकी ओर से उदासीन नहीं होते, सत्कर्म की प्रेरणा से वे उसकी मरणासन्न दशा में भी उसे संज्ञा-दान दे 'निर्वैरः सर्वभूतेषु' सिद्धान्त को साकार रूप देते हैं। 'प्रसाद' के आदर्श "उपकार, करुणा, समवेदना, और पवित्रता, मानव हृदय के लिए ही बने हैं।" इन आदर्शों को घोषित करने वाली देवी मल्लिका स्वयं इनका मूर्तिमान रूप हो जीवन में इन्हें चरितार्थ करती है। अतः उनके आदर्शों का प्रभाव मानव-मस्तिष्क तक ही न परमित-रहकर मानव-हृदय को स्पर्श करता है। 'प्रसाद' का आदर्श इस पृथ्वीतल पर ही स्वर्ग की कल्पना करता है। वे इस 'जले जगत को वृन्दावन' के रूप में देखने के अभिलाषी हैं। उनकी ये कल्पनाएँ केवल मौखिक न रहकर पात्रों के रूप में मूर्तिमती हो उठी हैं।

मल्लिका, देवकी, राज्यश्री, देवसेना, आदि नारीरूप में इस जगत की देवियां हैं। गौतम, वेदव्यास, आस्तीक, स्कंदगुप्त, प्रेमानन्द, प्रख्यातकीर्ति आदि के मनुष्य-कलेवर में देवत्व झांक रहा है। 'प्रसाद, की दार्शनिकता उनके नाटकों का बोझ नहीं है। वह उनके अधिकांश पात्रों के मनुष्यत्व के भार को ढोकर उन्हें देवत्व की भूमि पर पहुँचाती है। उपर्युक्त पात्रों के आदर्श-चरित्रों में 'प्रसाद' की कल्पना अपना नीड़ बनाकर इस पृथ्वी पर ही स्वर्ग की अवतारणा करती है। देवसेना के कण्ठ में बैठकर 'प्रसाद' इसे स्पष्ट घोषित करते हैं—"जहाँ हमारी कल्पना आदर्श का नीड़ बनाकर विश्राम करती है वहीं स्वर्ग है। वह इस पृथ्वी पर ही है।" 'प्रसाद' के आदर्शों का नीड़ उनके कल्पित आदर्श पात्रों का चरित्र है। उस नीड़ में मनुष्यत्व की सजीवता तथा देवत्व की स्निग्ध सुखद छाया या विश्रान्ति है।

आदर्शों के लिए 'प्रसाद' ने पात्रों की ऐतिहासिकता विकृत नहीं की है। उनके नाटक ऐतिहासिक होकर भी इतिहास नहीं हैं। उनमें अक्षरशः ऐतिहासिक सत्य ढूँढ़ना निरर्थक प्रयास है। इतिहास की पृष्ठभूमि पर उन्होंनें पात्रों के व्यक्तित्व में आदर्शों की प्रतिष्ठा और उनका व्यापार-सामञ्जस्य किया है। इसी से उनके पात्रों के मनुष्यत्व में देवत्व चमक उठा है।

'प्रसाद' के आदर्श आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों प्रकार के हैं। करुणा, प्रेम, परोपकार, क्षमा, अहिंसा, उदारता, आदि

उनके विविध आदर्श मनुष्य का लौकिक कल्याण कर उसका आध्यात्मिक स्तर समुन्नत करते हैं। उनमें पात्रों पर आदर्शों का प्रयासपूर्ण आरोप नहीं है। उनकी अभिव्यक्ति जीवन-व्यापारों में है। इसी में उनका सौन्दर्य है। 'प्रसाद' के पात्रों के सम्बन्ध में यह आरोप है कि वे दुहरा व्यक्तित्व ढोते हैं अर्थात् उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व-विकास के अन्तर्गत आदर्शों का आरोप और उनका निर्वाह उन्हें बोझिल कर उनके ऊपर दुहरी जिम्मेदारी लाद देता है। यह आरोप युक्तियुक्त नहीं है। 'प्रसाद' के पात्र आदर्शोन्मुख हैं और वे उनकी प्राप्ति अन्तर्द्वन्द्व के विकास और घटनाओं के घात-प्रतिघात द्वारा करते हैं। अतः उनका चरित्र-विकास कृत्रिम न होकर मनोवैज्ञानिक आधार पर है। यहाँ पर अन्तर्द्वन्द्व और घटनाओं के घात-प्रतिघात से होने वाले चरित्र-विकास की मनोवैज्ञानिक प्रणाली का परिचय देना कदाचित् अप्रासंगिक न होगा।

मनुष्यों के अन्तःकरण में सदा दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के बीच संघर्ष होता रहता है। कभी कभी सत्प्रवृत्तियाँ भी एक दूसरे का विरोध करने लगती हैं जैसे उत्तर-रामचरित्र में राम के समक्ष राजा के कर्त्तव्य और पति के कर्त्तव्य के बीच संघर्ष छिड़ता है। 'प्रसाद' के नाटकों में पात्रों के चरित्र का विकास दोनों प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व द्वारा है। भटार्क, शर्वनाग, आम्भीक, शान्तिदेव, जनमेजय आदि सत् और असत् प्रवृत्तियों से अन्तर्द्वन्द्व करते हुए

जीवन में आगे बढ़ते हैं और सत् को ग्रहण करते हैं। सत्प्रवृत्तियों का पारस्परिक विरोध चाणक्य और देवसेना के चरित्र में है। दोनों में ही प्रेम और लोकहित के बीच द्वन्द्व छिड़ता है। और दोनों ही समष्टिरूप लोक-हित के लिए व्यष्टिरूप प्रेम के प्रबल मनोभाव का बलिदान कर अमर हो जाते हैं। द्वन्द्व में ही जीवन का सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है। उससे विहीन जीवन शून्य और मृत-तुल्य है।

नाटकों में घटनाओं का घात-प्रतिघात भी सदैव होता रहता है। जीवन की गति वक्र रहती है। उसका स्रोत एक ओर बहता है; किन्तु वह धक्के पर धक्के खाते हुए विविध दिशाओं की ओर उन्मुख होता है। जीवन का यह प्रवाह स्वाभाविक और यथार्थ है। 'प्रसाद' के चरित्रों का आदर्शोन्मुख विकास इसी प्रकार का है। भटार्क, विरुद्धक, शान्तिभिक्षु, उत्तंक, सुवासिनी, विशाख; आदि विविध प्रमुख पात्र घटनाओं के घात-प्रतिघात द्वारा जीवन में आदर्शों की ओर अग्रसर होते हैं और उनसे उनके चरित्र का सौन्दर्य विकसित होता है।

शेक्सपियर के नाटकीय पात्रों की भाँति 'प्रसाद' के पात्रों में व्यक्तित्व की विविधता और अनेकरूपता नहीं है। गुण एवं वृत्ति-साम्य के कारण उनके बहुत से भिन्न भिन्न नाटकों के पात्र एक ही कोटि (Type) के प्रतीत होते हैं। 'प्रसाद' ने अपने कतिपय आदर्शों एवं जीवन-सिद्धान्तों के साँचे में पृथक् पृथक् नाटकीय पात्रों को ढाला है। गौतम, वेदव्यास, दांड्यायन, सुएनच्वांग प्रख्यातकीर्ति आदि

समान रूप से सर्वभूत-हित, विश्वप्रेम, करुणा, अहिंसा और विरक्तिपूर्ण भावना का आदर्श व्यवहार एवं उपदेश प्रचार करते हुए पाए जाते हैं। मल्लिका, देवकी, राज्यश्री, सुरमा आदि एक ही प्रकार से क्षमा प्रेम, उदारता और निर्वैर भावना की अभिव्यक्ति करती रहती हैं। इनके चरित्र-विकास में आद्योपान्त विविध आदर्शों का सम्पूर्ण चित्र वर्तमान है। मानव-हृदय की विभिन्न वृत्तियों की व्यंजना इनके व्यक्तित्व में बहुत कम हुई है।

'प्रसाद' के नाटकों में ऐसे भी पात्रों का अभाव नहीं है जो अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण अपने ढंग के एक ही हैं। देवसेना, और चाणक्य का चरित्र ऐसा ही है। प्रणय के अनन्य भाव की आजीवन साधना करने वाली और अन्त में त्याग की बलिवेदी पर उस प्रणय की आहुति अर्पित करने वाली देवसेना की सी दूसरी नारी-सृष्टि 'प्रसाद' के नाटकों में नहीं है। इसी प्रकार कठोर कर्मक्षेत्र में बुद्धि-बल और अध्यवसाय से प्राप्त सम्पूर्ण फल-त्याग चाणक्य के चरित्र में अद्वितीय रूप से चित्रित है। 'प्रसाद' के नाट्य-जगत् के ये अप्रतिम चरित्र हैं।

'प्रसाद' अपने आदर्शपूर्ण पात्रों का विकास आदर्शों का प्रतिपक्ष रखकर करते हैं। किसी पक्ष का सौन्दर्य उसके प्रतिपक्ष के सामने होने पर ही यथार्थ रूप में आंका जा सकता है। 'प्रसाद' देवसेना द्वारा मानों इसी सिद्धान्त की पुनरावृत्ति कराते हैं—"पवित्रता की माप है मलिनता, सुख का आलोचक है दुःख, पुण्य की कसौटी है पाप।"

हम उनके आदर्श-विरोधी या प्रतिपक्षी पात्रों को दो वर्गों में बाँट सकते हैं। एक वर्ग तो उन पात्रों का है जो संस्कारों के प्रभाव से अथवा परिस्थितियों की प्रेरणा से आरम्भ में आदर्श-विरोधी मार्ग ग्रहण करते हैं, किन्तु घटनाओं के घात-प्रतिघात से, एवं आदर्श पात्रों के सम्पर्क से अन्त में आदर्शोन्मुख मार्ग का अवलम्बन करते हैं। भटार्क, शान्ति-भिक्षु आम्भीक, शर्वनाग, तक्षक, नरदेव, विरुद्धक आदि का चरित्र-विकास इसी कोटि का है। दूसरे वर्ग के आदर्श-विरोधी पात्र वे हैं जो आरम्भ से अन्त तक आदर्शों के प्रतिकूल आचरण करते हुये पाप और कलङ्क की कलुषित छाया में अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं। प्रपञ्चबुद्धि,काश्यप विजया, नन्द, शकराज, रामगुप्त, महापिङ्गल देवगुप्त आदि पात्रों को इसी दूसरे वर्ग के अन्तर्गत समझना चाहिए। ये आरम्भ से अन्त तक हिंसा, छल, प्रतारणा, प्रवञ्चना, क्रूरता एवं पाखण्ड का निरन्तर आचरण करते हुए अपने जीवन का अन्त करते हैं। आदर्शों का उत्कर्ष दिखाने के लिए ही प्रतिपक्ष में इन निकृष्ट पात्रों की अवतारणा की गई है। "पवित्रता की माप है मलिनता, सुख का आलोचक है दुःख, पुण्य की कसौटी है पाप।"

'प्रसाद' के प्रायः सभी नाटक ऐतिहासिक हैं। केवल 'कामना' और 'एक घूंट' ही इसके अपवाद हैं। भारतीय इतिहास पर आश्रित उनके विविध नाटकों के नायक इतिहास प्रसिद्ध राजपुरुष हैं। केवल 'विशाख' का नायक स्नातक है। 'प्रसाद' ने अपने अधिकांश नाटकों का नामकरण उनके नायकों के नाम पर किया है,

इससे भी उनके समझने में सरलता होती है। 'ध्रुवस्वामिनी' और 'राज्यश्री' नायिका-प्रधान नाटक हैं, तथापि इनके भी नायक क्रमशः चन्द्रगुप्त और हर्षवर्धन इतिहास-प्रसिद्ध राजपुरुष हैं।

'प्रसाद' के अधिकांश नाटकों के नायक धीरोदात्त हैं। धनञ्जय ने दशरूपक में धीरोदात्त नायक के लक्षणों का परिचय इस प्रकार दिया है:—

"महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।
स्थिरो निगूढाहंकारो धीरोदात्तो दृढव्रतः॥"

अर्थात् धीरोदात्त नायक शोक क्रोधादि से अनभिभूत अन्तः करण वाला, गम्भीर, क्षमावान, अनात्मश्लाघी, दृढ़व्रत, धैर्य्यवान् और विनय आदि से युक्त होता है।

स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त (मौर्य), जनमेजय, हर्षवर्धन, विशाख और 'ध्रुवस्वमिनी' के नायक चन्द्रगुप्त में इनमें से अधिकांश गुण हैं। अतः हम इन्हें धीरोदात्त नायक कह सकते हैं। अजातशत्रु का नायक भिन्न कोटि का है। उसमें हम आरम्भ में ही अहंकार, दर्प, चञ्चलता आदि देखते हैं। धनञ्जय ने धीरोद्धत नायक के जो लक्षण दिये हैं उनमें से अधिकांश हमें अजातशत्रु में मिलते हैं। धनञ्जय द्वारा धीरोद्धत नायक की व्याख्या इस प्रकार है—

दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः।
धीरोद्धतस्त्वहंकारी चलश्चण्डो विकत्थनः॥

अर्थात् दर्प, असहनशीलता, अहंकार, आत्मश्लाघा, मायावी, छलपूर्ण और चञ्चल होना ये धीरोद्धत नायक के लक्षण हैं।

अजातशत्रु के चरित्र में इनमें से अधिकांश का समावेश है अतः उसे हम धीरोद्धत नायक कह सकते हैं।

'प्रसाद' के नाटकों में नायक का विरोध प्रायः राजनीति के क्षेत्र में दिखाया गया है। 'स्कन्दगुप्त' में पुरगुप्त और भटार्क आदि मगध के सिंहासन प्राप्ति के लिये ही स्कन्दगुप्त का विरोध करते हैं। 'चन्द्रगुप्त' में नायक का विरोध मगध राजसिंहासन के लिए अथवा विदेशियों से आर्य्यावर्त्त की रक्षा के लिए है। चन्द्रगुप्त का नन्द, आम्भीक, राक्षस, सिकन्दर और सिल्यूकस आदि से इसी लिए संघर्ष होता है। 'राज्यश्री' का हर्षवर्धन राजनैतिक कारणों से नरेन्द्रगुप्त और देवगुप्त से युद्ध करता है। जनमेजय का विरोध तक्षक नाग जाति के राजनैतिक उत्थान के लिए ही करता है। तक्षक द्वारा जनमेजय की स्त्री वपुष्टमा का अपहरण प्रणय प्रेरित न होकर प्रतिशोध एवं प्रतिहिंसा मूलक है। 'प्रसाद' के नाटकों में इतिहास के विभिन्न कालों का चित्रण होने के कारण तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का निदर्शन प्रमुख रूप से हुआ है। उनके नाटकों में शृङ्गार और प्रेम का भी चित्रण है। पर वह प्रायः उनका गौण ही विषय है। प्रेम संघर्ष का प्रेरक नहीं है। 'चन्द्रगुप्त' में कार्नेलिया का प्रणय चन्द्रगुप्त और फिलिप्स के द्वन्द्व का कारण है पर वह एक सामान्य घटना के रूप में है जो रङ्गमञ्च पर प्रत्यक्ष रूप से दिखाया भी नहीं गया है। केवल 'ध्रुव स्वामिनी' और 'विशाख' में प्रतिद्वन्द्विता

का कारण प्रेम है। रामगुप्त का चन्द्रगुप्त की वाग्दत्तापत्नी ध्रुवस्वामिनी से परिणय, पारस्परिक विरोध और राजनैतिक विरोध का कारण बनता है। 'विशाख' में तो प्रेम ही संघर्ष का प्रधान कारण है। चन्द्रलेखा का रूप सौन्दर्य विशाख और नरदेव के बीच संघर्ष की सृष्टि करता है। 'विशाख' और 'ध्रुवस्वामिनी' 'प्रसाद' के प्रणयसंघर्ष मूलक (Romantic) नाटक कहे जा सकते हैं।

नारी जीवन के चरित्रांकन में 'प्रसाद' को विशेष सफलता मिली है। उनके स्त्री पात्रों में, नारी हृदय की दो विभिन्न कोटियों की वृत्तियों का विशद चित्रण हुआ है। एक तो है—सतोगुण मूलक करुणा, विनय, प्रेम, सहानुभूति, उदारता, आत्मसमर्पण, क्षमा-शीलता, वात्सल्य, उत्सर्ग, नम्रता आदि की; दूसरी है—वैभव, वासना, विलास, कुटिलता, और क्रूरता, आदि की। राज्यश्री, मल्लिका, वासवी, रामा, देवसेना, देवकी, कार्नेलिया, मणिमाला, वपुष्टमा, चन्द्रलेखा, आदि प्रथम कोटि की हैं। सुरमा, विजया, मागन्धी, अनन्तदेवी, दामिनी आदि द्वितीय कोटि की हैं। राज्यश्री आदि सतोगुणी नारी पात्र विश्वमैत्री, करुणा, और प्रेम का सिद्धान्त मौखिकरूप से ही अभिव्यक्त न कर अपने आचरणों द्वारा उनके ज्वलन्त उदाहरण उपस्थित करती हैं। राज्यश्री और मल्लिका अपने पतियों के हत्यारों को क्षमादान कर विपत्ति पड़ने पर उल्टे उनकी सहायता के लिए अग्रसर होती हैं। वासवी अपने सौतेले पुत्र अजातशत्रु की दुर्विनीतता से क्षुब्ध न होकर

सदैव सच्चे मातृत्व का परिचय देती है। देवकी, स्वयं उसके वध की चेष्टा करने वाले शर्वनाग और भटार्क आदि को क्षमा दान करती है। तथा अपनी सौत अनंतदेवी और उसके पुत्र पुरगुप्त के प्रति कोई दुर्भाव नहीं व्यक्त करती। देवसेना अपने प्रियतम स्कंदगुप्त को अपनी प्रतिस्पर्धिनी विजया के हाथ सौंपकर भी उससे कभी द्वेष नहीं प्रकट करती। इसी प्रकार वे नारियाँ हैं जो वैभव और वासना की अतृप्ति से आकुल हो जीवन की दौड़ लगाती हैं। उनका चरित्रांकन भी अत्यन्त सजीव और स्वाभाविक हुआ है। मागन्धी वैभव और विलास की वासना से जीवन में अनेक रूप धारण करती है। विजया विलास और वैभव की आकांक्षा से ही स्कन्दगुप्त, भटार्क, पुरुगुप्त आदि भिन्न भिन्न पुरुषों को वरण करती फिरती है। सुरमा कभी देवगुप्त और कभी विकटघोष के क्रोड का आश्रय लेती है। दामिनी वेद की परिणीता भार्या होने पर भी उत्तङ्क और तक्षक को अपने विलास पाश में बाँधने के लिए आतुर है।

प्रेम नारी हृदय का सहज सात्विक भाव है, किन्तु उसका संयम अत्यावश्यक है। संयम के सांचे में उसका सौन्दर्य व्यक्त होता है। देवसेना, कल्याणी, कोरमा, कार्नेलिया, राज्यश्री, मणिमाला आदि के प्रेम का सौन्दर्य संयम के कारण निखर पड़ा है। संयमविहीन प्रेम विलासिता और उच्छृङ्खलता है। वह संयम के अभाव में हिंसा, छल, क्रूरता, कुटिलता आदि का उत्पादक

और पोपक हो जाता है। सुरमा, विजया, मागन्धी, दामिनी आदि का प्रेमभाव आत्मसंयम के बांध को तोड़ कर उच्छृङ्खलता और विलासिता के गहरे गर्त में जा पड़ता है। 'प्रसाद' की दृष्टि में संयमपूर्ण प्रेम ही श्रेयस्कर है। उसमें ही जीवन का कल्याण और सुख शान्ति निहित है। उस पावन प्रेम-गङ्गा में अवगाहन करने से मानव मनःपूत हो जाता है। 'प्रसाद' के प्रणय चित्रों के अन्तस्तल में विश्वप्रेम की यही मूलधारा प्रायः सर्वत्र देख पड़ती है।

'प्रसाद' के स्त्री पात्रों में प्रेम के अतिरिक्त मानव हृदय की अन्य उदात्त वृत्तियाँ भी चित्रित की गई हैं। जातीय गौरव, राष्ट्रप्रेम, और विश्व कल्याण कामना आदि उदात्त वृत्तियों से उनकी नारियाँ गौरवान्वित हैं। वे अपनी सत्प्रेरणा से पुरुषों का भी प्रोत्साहन और मार्ग प्रदर्शन करती हैं। अलका राष्ट्रप्रेम की सजीवमूर्ति है। वह अपनी ओजमयी वाणी से समस्त आर्य्यावर्त में राष्ट्रीयता की एक लहर दौड़ा देती है। वह अपने देशद्रोही भाई आम्भीक के हृदय में पूर्व कृत कर्मों के लिये अनुताप तथा साहस और सच्ची देशभक्ति प्रस्फुटित करती है। देवसेना अपनी प्रभावोत्पादक सङ्गीत लहरी से भारत के बच्चे बच्चे के हृदय में सोया हुआ देशप्रेम जगाती फिरती है। मनसा नाग जाति को जागरण का पाठ पढ़ाती हुई उनमें जातीयता को सजग और सचेष्ट करती है।

नारी का सतीत्व और आत्मसम्मान उसकी सबसे बड़ी सम्पदा है। भारतीय नारी उसकी रक्षा के लिये सदा से ही प्राण

पण से सचेष्ट रही है। 'प्रसाद' का नारी समाज सतीत्व और आत्मसम्मान की रक्षा के लिये अपना समस्त साहस बटोरकर परिस्थितियों का वीरतापूर्वक सामना करता है और अवसर पड़ने पर अपने प्राणों की बलि भी चढ़ा देता है। देवसेना आत्मरक्षा के लिए छुरी सदैव पास रखती है और अन्तःपुर के द्वार पर आत्मसम्मान की रक्षा के लिए शत्रुओं से लोहा लेती है। राज्यश्री अपने हृदय की समस्त कोमलताओं को दबाकर आततायी देवगुप्त पर खड्ग से प्रहार करती है। वह नीच देवगुप्त के कारागार में रहकर भी उसके प्रणय प्रस्ताव को निर्भीकतापूर्वक ठुकरा देती है। मलया जातिसम्मान, और जाति रक्षा के लिए स्वयं खड्गहस्त हो संग्राम भूमि में जाती हैं। अलका दुर्गरक्षा सन्नद्ध हो दुर्गारोहण करने वाले ग्रीक योद्धाओं को मारती है और स्वयं सिकन्दर पर बाण वर्षा करती हैं। कल्याणी सतीत्व और आत्मसम्मान की रक्षा के लिए पर्वतेश्वर की हत्या करती है।

परिणय ग्रीक और भारतीयों में चिरमैत्री का कारण होता है। इसी प्रकार मणिमाला का जनमेजय से विवाह सम्बन्ध नागजाति और आर्य्यों को स्थायी सम्बन्ध सूत्र में बाँधता है।

नारी जीवन का आदर्श 'प्रसाद' ने अजातशत्रु के तृतीय अङ्कस्थित चतुर्थ दृश्य में विस्तारपूर्वक अंकित किया है—"(नारी) राज्य की सीमा विस्तृत है; और पुरुष की संकीर्ण। कठोरता का उदाहरण है पुरुष और कोमलता का विश्लेषण है—स्त्री जाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है। इसीलिये प्रकृति ने उसे इतना सुन्दर और मनमोहन आवरण दिया है—रमणी का रूप। × × × × × × क्रूरता अनुकरणीय नहीं है, उसे नारी जाति जिस दिन स्वीकृत कर लेगी, उस दिन समस्त सदाचारों में विप्लव होगा।" इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि समस्त पुरुष कठोर एवं क्रूर हैं और नारी कोमल एवं करुण है। कठोरता एवं कोमलता पुरुष और नारी के क्रमशः सामान्य गुण धर्म हैं। इसके अपवाद भी अनेक हो सकते हैं। पर आदर्श स्थिति यही है। कोमल एवं करुण भावापन्न नारी की गोद में वैभव एवं विलास की भावनाओं में मदान्ध तथा क्रूरता और कुटिलता की प्रतीक किसी अन्य स्त्री का ही संतप्त हृदय शान्त नहीं होता अपितु पुरुष भी उसमें चिर-कल्याण खोजता है। विरुद्धक और प्रसेनजित् मल्लिका की शरण में आकर उसकी करुणा में विश्रान्ति पाते हैं। अनन्तदेवी और छलना क्रमशः देवकी और वासवी की क्षमामयी मूर्ति के समक्ष

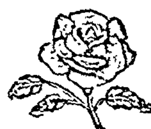
सर्वथा अवलम्बित होना संभव नहीं है। नाटकों में कथोपकथन और कार्य्य व्यापार ही चरित्र चित्रण का मुख्य साधन है। नाटकों में सफल चरित्रांकन के लिए कथोपकथन संक्षिप्त, प्रभावोत्पादक एवं घटना व्यापार को विकसित करने वाले होना चाहिए। संवादों के अधिक बड़े हो जाने से व्यावहारिक यथार्थता न्यून हो जाती है।

'प्रसाद' के प्रायः सभी नाटकों में अधिकांश सम्वाद प्रभावोत्पादक हैं। वे पात्र के चरित्र विकास और कथानक के विस्तार में यथेष्ट सहायता देते हैं। उनके नाटकीय पात्र परस्पर के सम्भाषणों एवं कार्यों से अपने मनोगत विचारों का परिचय देकर अपना व्यक्तित्व प्रकट करते हैं। संवादों में सजीवता पर्य्याप्त है। किन्तु यह तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि उनके संवाद कहीं कहीं अनावश्यक रूप से विस्तृत हो गए हैं। अतः वे चरित्र विकास अथवा घटना व्यापार की दृष्टि से अनावश्यक प्रतीत होते हैं। इसका कारण 'प्रसाद' की उत्कृष्ट दार्शनिकता एवं सरस भावुकता है। किसी दार्शनिक भाव की अभिव्यक्ति में वे समस्त तर्कों को एक साथ व्यवहृत करना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त जहां किसी आदर्श सम्बन्धी उनकी सम्पूर्ण दार्शनिक विचारधारा जीवन व्यापारों द्वारा अभिव्यक्त नहीं हो सकती वहीं भावातिरेक के साथ विस्तारपूर्वक कथोपकथन द्वारा उसे प्रकट किया गया है। यही बात उनकी भावुकता के सम्बन्ध में लागू होती है। उनके अधिकांश नाटकों में

क्तियों द्वारा पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व, अथवा मञ्च पर अनभिनेय कथावस्तु का परिचय सामाजिकों को कराता है। 'प्रसाद' ने स्वगतोक्तियों का प्रयोग अधिकांश में अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करने के लिए किया है। बिम्बसार, स्कन्दगुप्त, चाणक्य, देवसेना, शान्तिभिक्षु, जनमेजय आदि उनके सभी प्रमुख पात्र स्वगतोक्तियों द्वारा मानस में होने वाले अन्तर्द्वन्द्व को मुखरित करते हैं। 'प्रसाद' के स्वगत भाषणों का यह एक बड़ा दोष है कि संख्या में बहुत अधिक हैं तथा दीर्घकाय हैं। ऐसा कोई नाटक नहीं है जहाँ इसका आधिक्य पूर्ण प्रयोग न हो। अतः यह अवश्य है कि स्वगतोक्तियों का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग खटकता है किन्तु चरित्रचित्रण की दृष्टि से इनका अपरिमेय महत्व है।

समष्टि रूप से विचार करने पर यही प्रतीत है कि 'प्रसाद' की चरित्रचित्रण शैली, हिन्दी नाट्य-साहित्य में, अपने ढङ्ग की अपूर्व है। पात्रों का व्यक्तित्व स्पष्ट एवं प्रभावशाली है। उनमें आदर्शों की प्रतिष्ठा प्रकृतरूप में है तथा अनुरूप व्यापार समन्वय से उनकी सजीवता आकर्षणपूर्ण है। पात्रों के चरित्रों में मानव अन्तःकरण की विविध मनोवृत्तियों का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक है। जीवन की आदर्श स्थिति के साथ उसकी यथार्थता का मनोहर रूप भी अङ्कित है। पात्रों की चारित्रिक महत्ता अथवा हीनता उनके मन, वचन और कर्म द्वारा पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है। उनके चरित्रविकाश में विवेक और भावुकता का समुचित समन्वय है।

नाटकोपयोगी अधिकांश गुणों से अलंकृत होने के कारण 'प्रसाद' के नाटकों में चरित्र चित्रण ही निस्सन्देह उनकी सबसे [illegible] विशेषता है।



स्कन्दगुप्त

स्कन्दगुप्त नाटक का धीरोदात्त नायक है। वह गम्भीर, धैर्य्यवान, पराक्रमी, शीलवान, विनीत, दृढ़संकल्पवान, निरभिमान, और मृदुभाषी है। 'प्रसाद' ने उसके महान व्यक्तित्व में अनासक्तिमय प्रत्यक्ष कर्मवाद की मंजुल झाँकी प्रस्तुत की है। निष्काम भाव से जीवन के कठोर कर्म्म क्षेत्र में वह अवतीर्ण होता है। जल में कमल पत्र की भाँति निर्लिप्त भाव से वह जीवन के विविध व्यापारों में निरन्तर संघर्ष करता है। अन्त में वह अपने अतुलनीय पराक्रम से उपार्जित साम्राज्य को अपने भाई पुरगुप्त को दानकर पूर्णतया निष्काम हो जाता है। उसके चरित्र के सम्बन्ध में डा० जगन्नाथ प्रसाद का यह गम्भीर निष्कर्ष सर्वथा मान्य है—"नाटककार ने उसमें पाश्चात्य व्यक्ति-वैचित्र्य और भारतीय साधरणीकरण का सुन्दर समन्वय किया है"।

तितिक्षा और विराग की अविरल धारा में संतरण करते हुए भी स्कन्दगुप्त आर्य्य साम्राज्य के संगठन, रक्षा और उद्धार में जिस साहस, धैर्य्य, पराक्रम और उत्साह से प्रवृत्त होता है वह उसके व्यक्तित्व की महान विचित्रता है। सम्राट् होकर भी साधारण सैनिक जीवन की स्पृहा, विपत्तियों के वात्याचक्र में फंसे रहने पर भी शरणार्थी की सहायता के लिए सद्यः प्रस्तुत होना, गुरुजनों एवं परिजनों के प्रति सदैव शील एवं विनययुक्त आचरण करना भारतीय

सामान्य जीवन के अनुपम उदाहरण हैं। स्कन्दगुप्त अपने अनुपम शील सौजन्य, उदारता एवं कर्त्तव्य-निष्ठा आदि से भारतीयता का प्रतीक बन जाता है।

स्कन्दगुप्त के चरित्र में आरम्भ से ही विरागपूर्ण भावना का चित्रण है। अधिकार सुख को वह मादक और सारहीन समझता है। कठोर कर्म व्यवसाय के बाद भी उसमें वैराग्य उन्मेष होता है। मालव युद्ध में अपूर्व पराक्रम से शक और हूणों की सम्मिलित वाहिनी को प्रताड़ित करने के बाद वह चक्रपालित से कहता है—'चक्र ऐसा जीवन तो विडम्बना है, जिसके लिए दिन-रात लड़ना पड़े। साहस पूर्ण शौर्य सापेक्ष कार्य्यारम्भ में भी उसकी तितिक्षा मुखरित हो उठती है। देवसेना की प्रपंच बुद्धि के हाथों से, रक्षा करने के पूर्व वह कहता है—"इस साम्राज्य का बोझ किसके लिए—केवल गुप्त सम्राट् के वंशधर होने की दयनीय दशा ने मुझे इस रहस्य पूर्ण क्रिया कलाप में संलग्न रखा है।" वह जीवन के घोर संकटमयकाल में कामना करता है—"बौद्धों का निर्वाण, योगियों की समाधि और पागलों की सम्पूर्ण विस्मृत मुझे एक साथ चाहिए।' स्कन्दगुप्त के जीवन में उसकी वैराग्य प्रधान चिन्तना नाटक की एक समस्या है। यह प्रश्न होता है कि स्कन्दगुप्त जैसा वैरागी क्या नायक होने के उपयुक्त है ? अथवा उसकी वैराग्य भावना क्य एक पाखंड है ? अधिकार सुख के प्रति उदासीनता प्रकट करनेवाला, मालव का सिंहासन क्यों चुपचाप स्वीकार कर लेता है। संघर्ष पूर्ण जीवन को विडम्बना समझने वाला, स्कन्द क्यों गुप्त साम्राज्य

के लिए घर और बाहर युद्ध करने के लिए कमर कसे तैयार रहता है। योगियों की समाधि चाहने वाला स्कन्द क्यों देवसेना से एकान्त जीवन बीतने की प्रार्थना करता है, आदि आदि। स्कन्द-गुप्त के वैराग्य और कर्म व्यापार की यथार्थता समझने के लिए हमें 'प्रसाद' का आदर्श और स्कन्दगुप्त कालीन भारत की राजनैतिक परिस्थितियाँ समझना होगा।

'प्रसाद' के आदर्श में आकांक्षा और आसक्ति मनुष्य के आध्या-त्मिक विकास में बाधक है। इन्हीं के फेर में पड़कर मानव दानव हो सकता है। इनसे परे रहकर जीवन व्यापारों में संलग्न मनुष्य जीवन के चरम लक्ष्य—इस लोक का सुख और परलोक की गति—प्राप्त करता है। प्राचीन भारतीय इतिहास साक्षी है जनकराज विदेह आदि के जीवन चरित्र इसी प्रकार के थे। स्कन्दगुप्त का राजसी जीवन आकाँक्षा और आसक्ति विहीन है। जिस अधिकार सुख के प्रति उदासीनता उसने आरम्भ में व्यक्त की उसी का चरमरूप हम नाटक के अन्त में पुरुगुप्त को साम्राज्यदान में देखते हैं। मालव का सिंहासन वह अधिकार सुख के लिए नहीं, वरन् सैनिक रूप में साम्राज्य सेवा के लिए स्वीकार करता है।

मालव में राज्याभिषेक के अवसर पर उसने गोविन्दगुप्त से यही बात कही—'इस समय मैं एक सैनिक बन सकूँगा सम्राट नहीं।' स्कन्दगुप्त के अन्तःकरण में आदर्शों एवं कार्य व्यापार के सतत संघर्ष-द्वन्द्व है। उसके कार्य आदर्शोन्मुख है। आदर्शों की छाप उसके प्रत्येक व्यापार पर है। यही उसके चरित्र का सौन्दर्य है।

युद्धव्यापार प्रधानतः हिंसापूर्ण है। हिंसा प्रकृति सम्मत नहीं है। मानव हृदय स्वभावतः परस्पर प्रेम प्रसार द्वारा जीवन के समस्त व्यापार सम्पादित करने का अभिलाषी है। इसमें उसे चिर सुख और शान्ति मिलती है। अधिकार सुखों के प्रति उदासीनता के साथ हिंसक जीवन के प्रति (स्कंद के अन्तःकरण में) उपेक्षा के मूल में यही भाव है। वह प्रकृति के मनोरम, शीतल सुखद वातावरण के समान जीवन को शान्ति और शीतलता का नीड़ बनाना चाहता है। युद्ध व्यापार में उसकी प्रवृत्ति परिस्थिति जन्य है। जिस आदर्श की जिस उच्चभूमि तक स्कंद का हृदय पहुँच चुका है वह समाज की सामान्य स्थिति की पहुँच के बाहर है। अतः वह उस स्थिति के अनुरूप व्यवहार शान्ति और व्यवस्था के लिए करता है। नाटक में वर्णित स्कंदगुप्त कालीन राजनैतिक स्थिति इतिहास सम्मत है। साम्राज्य में अनंतदेवी और पुरगुप्त के कारण अन्तर्द्रोह की ज्वाला धधक रही थी। भारत के उत्तर पश्चिम भाग पर हूणों के विकट आक्रमण हो रहे थे। ऐसी स्थिति में स्कंदगुप्त यदि कोरा आदर्शवादी बनकर देश की राजनीति से निरपेक्ष हो जाता तो निस्संदेह वह अत्यन्त निकम्मा सिद्ध होता। 'प्रसाद' ने आदर्श की प्रतिष्ठा निरपेक्ष जीवन में नहीं की। मानव जीवन के घोर संघर्षों एवं विकट स्थितियों में ही उनके आदर्शों का सौन्दर्य निखरता है। स्कन्दगुप्त जीवन में आदर्शानुकूल ही आचरण करता है। वह शर्वनाग, भटार्क,

अनन्तदेवी आदि को उनके द्वारा अनेक जघन्य कार्य्य किए जाने पर भी क्षमादान द्वारा दण्डित करता है। शारीरिक यंत्रणा से मानसिक परिवर्तन उतना अधिक सम्भव नहीं जितना हृदय पर सीधे प्रभाव डालने वाले मानवोचित आदर्श व्यवहारों से। साम्राज्य के विरोधी अपने दुराचरण में आगे न बढ़ने पावें इसलिए स्कन्द का प्रत्यक्ष रूप से कर्मक्षेत्र में आना वांछित है, इसके पश्चात् तो विरोधियों के हृदय पर विजय प्राप्त करना ही उसकी सच्ची जीत है। अनन्तदेवी, भटार्क, पुरुगुप्त एवं खिङ्गिल आदि सच्चे रूप में खेद प्रकाशन कर साम्राज्य विरोध त्याग देते हैं और स्कन्द के आदेशानुसार जीवन गति में परिवर्तन करते हैं। स्कन्दगुप्त के आदर्शानुकूल यह उसकी महान विजय है। स्कन्द के चरित्र में 'प्रसाद' ने जीवन के विभिन्न व्यापारों में आदर्शों की प्रतिष्ठा कर उन्हें लोकोपयोगी सिद्ध कर दिया है।

स्कन्दगुप्त कोरा आदर्शवादी नहीं है। वह एक साहसीय वीर सैनिक, चतुर सेनानी और सच्चा आर्तपरायण है। घोर विपत्तियों में फँसे रहने पर भी वह शरणागत की रक्षा के लिए तत्काल सन्नद्ध हो जाता है। मालव के लिए स्कन्दगुप्त की युद्ध यात्रा इसका परिचायक है। हूणों से डटकर लोहा लेना और उन्हें बारम्बार विताड़ित कर भगा देना उसके प्रचण्ड पराक्रम, रणकुशलता और वीरता के द्योतक हैं। देवकी की हत्या के प्रयास में भटार्क को विफल मनोरथ करना और प्रपञ्चबुद्धि के हाथों से देवसेना को मुक्त करना स्कन्द के अदम्य साहस के प्रबल प्रमाण हैं। आर्तपरायण तो वह ऐसा है कि पूर्णतया पराजित, निरस्त्र एवं एकाकी स्थिति में होने पर भी, हूणों द्वारा पीड़ित देवसेना की आर्तवाणी को सुनते ही वह अपनी सम्पूर्ण मानसिक वेदनाओं को भुला देता है, और उसकी रक्षा के लिए दौड़ पड़ता है।

स्कन्दगुप्त जैसा शक्तिशाली और स्वरूपवान है वैसा ही वह शीलवान् भी है। चक्रपालित, स्कन्दगुप्त की गम्भीरता को, यथार्थ रूप से नहीं पहिचानता। वह स्कन्दगुप्त को उत्तेजित करने के लिए जब मर्य्यादा विरुद्ध एवं उत्तेजनापूर्ण बातें कहता है तो पर्णदत्त उसे डाँटने लगता है। स्कन्दगुप्त तत्काल चक्रपालित की ओर से सफाई देता हुआ पर्णदत्त से क्षमा मांगता है:—

"आर्य्य पर्णदत्त! क्षमा कीजिए। हृदय की बात को राज-नीतिक भाषा में व्यक्त करना चक्र नहीं जानता है।"

मित्र के दोषों का परिहार उच्च शील का परिचायक है। स्कन्दगुप्त अपनी माता का अनन्य भक्त तो है ही, वह अपनी विमाता अनन्तदेवी को जघन्य अपराध करने पर भी छोड़ ही नहीं देता वरन् उसे स्वेच्छानुसार कार्य्य करने का अवसर देता है—'अनन्तदेवी, कुसुमपुर में पुरगुप्त को लेकर चुपचाप बैठी रहो। जाओ—मैं स्त्री पर हाथ नहीं उठाता" अपने पितृव्य गोविन्दगुप्त के दीर्घकाल पश्चात् पुनर्मिलन से जो आदरपूर्ण अनुराग का स्फुरण स्कन्द के हृदय में उनके प्रति होता है वह उसके शील का मनोहर उदाहरण है। स्कन्दगुप्त राजसभा में गोविन्दगुप्त के प्रवेश करते ही खड़ा होकर कहता है— "तात! कहाँ थे? इस बालक पर अकारण क्रोध करके कहाँ छिपे थे?" स्कन्द की इस उक्ति के प्रत्येक शब्द से उसकी करुणोत्पादक विनम्रता व्यंजित होती है।

उदारता शील के अन्तर्गत ही मान्य है। स्कन्दगुप्त के चरित्र में उसकी उदारता के अनेक उदाहरण हैं। देवसेना को प्रपञ्चबुद्धि से बचाने में सहायता देने के कारण स्कन्द, मातृगुप्त को काश्मीर का शासक नियुक्त करता है। साध्वी रामा की अटल स्वामिभक्ति के कारण स्कन्द उसके पति शर्वनाग को

जघन्य अपराधों के लिये क्षमा कर उसे अन्तर्वेद का विषयपति बना देता है। अन्त में जीवन के अनेक संघर्षों एवं विषम परिस्थितियों से प्राप्त साम्राज्य को पुरुगुप्त के लिए दान कर देना तो उसकी महान् उदारता का उज्ज्वलतम उदाहरण है।

स्कन्दगुप्त के व्यक्तित्व में राष्ट्रप्रेम और स्वजाति–हित कामना तो कूट कूट कर भरी है। वह राष्ट्र की रक्षा, व्यवस्था और उसके उद्धार के लिए आजीवन नाना प्रकार के संकटों का साहसपूर्ण सामना करता है। कुभा की प्रखर धारा से निकल आने के पश्चात् देश की दुर्दशा ही उसे सबसे अधिक व्यथित करती है। देश की दुरवस्था उसके हृदय को करुणाप्लावित कर देती है और वह मानो रो उठता है—"परन्तु यह ठीकरा इसी सिर पर फूटने को था। आर्य्य-साम्राज्य का नाश इन्हीं आंखों को देखना था। हृदय काँप उठता है, देशाभिमान गरजने लगता है! मेरा स्वत्व न हो, मुझे अधिकार की आवश्यकता नहीं। यह नीति और सदाचारों का महान् आश्रय-वृक्ष, गुप्त-साम्राज्य हरा भरा रहे, और कोई भी इसका उपयुक्त रक्षक हो"—स्कन्दगुप्त के पुरुषार्थ, सङ्गठन एवं व्यवस्था से, भीमवर्मा के कथनानुसार—"आर्य्य साम्राज्य का उद्धार हुआ है। ××× सिंधु के प्रदेश से म्लेच्छराज ध्वंस होगया है। ××× गौ, ब्राह्मण और देवताओं की ओर कोई भी आततायी आँख उठाकर नहीं देखता है। लौहित्य से सिंधु तक, हिमालय की कन्दराओं में भी स्वच्छन्दतापूर्वक सामगान होने लगा। ×××

'प्रसाद' जी ने स्कन्दगुप्त के चरित्र में अनासक्तिमय कर्मयोग के अतिरिक्त उसके जीवन का मधुरपक्ष भी अङ्कित किया है।

स्कन्दगुप्त अपने प्रणय भाव में भी अपनी प्रकृति के अनुसार गम्भीर एवं संयत है। प्रेम का उदय सामान्य मानव जीवन में रूप एवं गुणों के प्रति आकर्षित होने से होता है। प्रारम्भिक वय में रूप का विशेष प्रभाव पड़ता है। स्कन्दगुप्त अपनी प्रारम्भिक वय में मालव में विजया को देखकर उसके रूप से प्रभावित्त होता है। अपनी सहज गम्भीरतावश वह उसके विषय में केवल इतना ही पूछता है 'यह— यह कौन ? विजया सदृश साधारण रमणी के लिए स्कन्द के हृदय की गम्भीरता का अवगाहन कर उसके अन्तर में अपने प्रति अङ्कुरित प्रणय भाव को पहिचानना तो बहुत दूर की बात है देवसेना तक इस बात को आगे की घटनाओं से ही जान पाती है।

स्कन्द के प्रणय में समुद्र की सी विशालता और गम्भीरता है। विजया उसके सामने भटार्क को अपना पति वरण करती है। स्कन्द का प्रणय-सिंधु क्षुब्ध हो उठता है और सहसा यह ध्वनि उसके मुख से निकल ही पड़ती है—'परन्तु विजया, तुमने यह क्या किया।"

देवसेना इस उक्ति का मर्म अवगत कर ही कहती है "(स्वगत) आह ! जिसकी मुझे आशङ्का थी, वही है। विजया ! आज तू हार कर भी जीत गई।" विजया स्कन्द के कोमल मर्म पर यह प्रथम आघात करती है। आगे चल कर वह देवसेना की हत्या के प्रयत्न में वह कार्य्य करती है जिससे प्रभावित हो स्कन्द को बरबस यह कहना पड़ा—"विजया जिसे हमने सुख शर्वरी की सन्ध्यातारा के समान पहले देखा, वही उल्कापिंड होकर दिगन्तदाह करना चाहती

है।" स्कन्द सदृश, विचारशील व्यक्तियों के लिए केवल रूप ही स्थायी प्रणय का आधार नहीं होता। उसके लिए अनुकूल गुण भी अपेक्षित हैं। स्कन्दगुप्त विजया की प्रकृति का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके ही उसे अपने प्रणय के अयोग्य ठहराता है।

स्कन्दगुप्त के सम्पर्क में आने वाली दूसरी कुमारी देवसेना है। विजया के प्रति पहिले ही सहसा प्रणय भाव जागृत हो जाने के कारण चारित्रिक मर्यादा की दृष्टि से देवसेना की ओर वह प्रेमभाव से नहीं देखता है। वह विजया का ही स्वप्न देखता रहता है। किन्तु उस स्वप्न के भङ्ग होते ही उसे अपने प्रणय क्षितिज में एक नवीन ज्योति पुञ्ज का प्रत्यक्ष आभास प्राप्त होता है। श्मशान में देवसेना मृत्यु के मुख में पड़ी हुई केवल उसका ही ध्यान कर रही है—"प्रियतम! मेरे देवता युवराज!! तुम्हारी जय हो।" स्कन्दगुप्त वहीं छिपा हुआ यह देख रहा है। उत्तरापथ में सुशासन की व्यवस्था में व्यस्त होने के कारण तथा तत्पश्चात् ही हूणों से पुनः संग्रामरत होने के कारण स्कन्दगुप्त को एक लम्बे अर्से तक देवसेना से मिलने का अवसर नहीं मिलता। वह उससे श्मशान वाली घटना के बाद कुभा की क्षुब्ध लहरों से निकल आने पर ही मिलता है। स्कन्दगुप्त देवसेना से इस पुनर्मिलन के अवसर पर एकान्त में, किसी कानन के कोने में उसे देखता हुआ जीवन व्यतीत करने की अपनी कामना प्रकट करता है और अपना सम्पूर्ण ममत्व उसे सौंप देना चाहता है। देवसेना के प्रति उसका आकर्षण उसके अलौकिक गुणों के कारण है। कालगत अनुभव से स्कन्द यह पहिचान लेता

स्कन्दगुप्त अपने प्रणय भाव में भी अपनी प्रकृति के अनुसार गम्भीर एवं संयत है। प्रेम का उदय सामान्य मानव जीवन में रूप एवं गुणों के प्रति आकर्षित होने से होता है। प्रारम्भिक वय में रूप का विशेप प्रभाव पड़ता है। स्कन्दगुप्त अपनी प्रारम्भिक वय में मालव में विजया को देखकर उसके रूप से प्रभावित होता है। अपनी सहज गम्भीरतावश वह उसके विपय में केवल इतना ही पूछता है 'यह— यह कौन ? विजया सदृश साधारण रमणी के लिए स्कन्द के हृदय की गम्भीरता का अवगाहन कर उसके अन्तर में अपने प्रति अंकुरित प्रणय भाव को पहिचानना तो वहुत दूर की बात है देवसेना तक इस बात को आगे की घटनाओं से ही जान पाती है।

स्कन्द के प्रणय में समुद्र की सी विशालता और गम्भीरता है। विजया उसके सामने भटार्क को अपना पति वरण करती है। स्कन्द का प्रणय-सिंधु क्षुब्ध हो उठता है और सहसा यह ध्वनि उसके मुख से निकल ही पड़ती है—'परन्तु विजया, तुमने यह क्या किया।"

देवसेना इस उक्ति का मर्म अवगत कर ही कहती है "(स्वगत) आह! जिसकी मुझे आशङ्का थी, वही है। विजया! आज तू हार कर भी जीत गई।" विजया स्कन्द के कोमल मर्म पर यह प्रथम आघात करती है। आगे चल कर वह देवसेना की हत्या के प्रयत्न में वह कार्य्य करती है जिससे प्रभावित हो स्कन्द को बरबस यह कहना पड़ा—"विजया जिसे हमने सुख शर्वरी की सन्ध्यातारा के समान पहले देखा, वही उल्कापिंड होकर दिगन्तदाह करना चाहती

है।" स्कन्द सदृश, विचारशील व्यक्तियों के लिए केवल रूप ही स्थायी प्रणय का आधार नहीं होता। उसके लिए अनुकूल गुण भी आपेक्षित है। स्कन्दगुप्त विजया की प्रकृति का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके ही उसे अपने प्रणय के अयोग्य ठहराता है।

स्कन्दगुप्त के सम्पर्क में आने वाली दूसरी कुमारी देवसेना है। विजया के प्रति पहिले ही सहसा प्रणय भाव जागृत हो जाने के कारण चारित्रिक मर्य्यादा की दृष्टि से देवसेना की ओर वह प्रेमभाव से नहीं देखता है। वह विजया का ही स्वप्न देखता रहता है। किन्तु उस स्वप्न के भङ्ग होते ही उसे अपने प्रणय क्षितिज में एक नवीन ज्योति पुञ्ज का प्रत्यक्ष आभास प्राप्त होता है। स्मशान में देवसेना मृत्यु के मुख में पड़ी हुई केवल उसका ही ध्यान कर रही है—"प्रियतम! मेरे देवता युवराज!! तुम्हारी जय हो।" स्कन्दगुप्त वहीं छिपा हुआ यह देख रहा है। उत्तरापथ में सुशासन की व्यवस्था में व्यस्त होने के कारण तथा तत्पश्चात् ही हूणों से पुनः संग्रामरत होने के कारण स्कन्दगुप्त को एक लम्बे अर्से तक देवसेना से मिलने का अवसर नहीं मिलता। वह उससे स्मशान वाली घटना के बाद कुभा की क्षुब्ध लहरों से निकल आने पर ही मिलता है। स्कन्दगुप्त देवसेना से इस पुनर्मिलन के अवसर पर एकान्त में, किसी कानन के कोने में उसे देखता हुआ जीवन व्यतीत करने की अपनी कामना प्रकट करता है और अपना सम्पूर्ण ममत्व उसे सौंप देना चाहता है। देवसेना के प्रति उसका आकर्षण उसके अलौकिक गुणों के कारण है। कालगत अनुभव से स्कन्द यह पहिचान लेता

है कि देवसेना—'इस नन्दन की वसंत श्री, इस अमरावती की रानी इस स्वर्ग की लक्ष्मी' है।

'प्रसाद' जी ने स्कन्दगुप्त के चरित्र में अनासक्तिमय कर्मयोग के अतिरिक्त पूर्व कथित जो मधुर-पक्ष चित्रित किया है वह भी उसके जीवनादर्शों के अनुरूप ही है। प्रेमालम्बन रूप में विजया सदृश रमणी उसके लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। देवसेना के प्रति उसका प्रेम गम्भीर और वास्तविक है। स्कन्दगुप्त ने देवसेना से विवाहरूप में बन्धुवर्म्मा की इच्छापूर्ति तथा उनसे उऋण होने की जो बात कही उसमें स्कन्द की लोकदृष्टि और कृतज्ञता का सात्विक भाव सुनिहित है इससे उसका प्रणय फीका नहीं पड़ता है।

स्कन्दगुप्त के महान चरित्र की विशेषताएँ हम नाटक के अन्य प्रमुख पात्रों से भी सुनते हैं। महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त उसे 'आर्य चन्द्रगुप्त की अनुपम प्रतिकृति, गुप्त-कुल-तिलक' कहकर सम्बोधित करते हैं और स्कन्द के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर आशीर्वाद देते हैं—'यह रत्न, यह गुप्त-कुल के अभिमान का चिन्ह, सदैव यशोमण्डित रहेगा।' मालव-नरेश बन्धुवर्म्मा स्कन्दगुप्त के पराक्रम, राष्ट्रहित-कामना और त्यागमय जीवन से प्रभावित हैं। वह उसके प्रति अपने अन्तःकरण के भाव अपनी एक स्वगतोक्ति में इस प्रकार व्यक्त करता है—"उदार-वीर हृदय, देवोपम सौन्दर्य, इस आर्य्यावर्त का एक मात्र आशास्थल, इस युवराज का विशाल मस्तक कैसी वक्र लिपियों से अङ्कित है। अन्तःकरण में तीव्र अभिमान के साथ विराग है। आँखों में एक जीवनपूर्ण ज्योति है।" बन्धुवर्म्मा

स्कन्दगुप्त के चरित्र की इन महानताओं को ही लक्षित कर अपना राज्य और जीवन उसके चरणों पर न्यौछावर कर देता है। वह यह भलीभाँति अनुभव कर लेता है कि "आर्य्यावर्त का जीवन केवल स्कन्दगुप्त के कल्याण से है।" अतः उसका स्कन्द के लिए राज्य एवं जीवन का उत्सर्ग स्वाभाविक एवं यथार्थ है।

देश में हूणों का आतंक फैलने पर विभिन्न लोग स्कन्दगुप्त के नाम पर आँसू बहाते हैं। मातृगुप्त 'प्रवीर उदार-हृदय स्कन्दगुप्त कहाँ हैं,' कह कर चारों ओर विलख रहा है। रामा शोकाकुल अर्ध-विक्षिप्तावस्था में स्कन्दगुप्त के संबंध में कारुणिक प्रलाप कर रही है—"वही स्कन्द, रमणियों का रक्षक, बालकों का विश्वास, वृद्धों का आश्रय और आर्य्यावर्त की छत्रछाया।" स्कन्दगुप्त के विरोधी भी उसके अभाव में उसके लिए ग्लानियुक्त पश्चात्ताप करते हैं। भटार्क कहता है—"ऐसा वीर, ऐसा उपयुक्त और परोपकारी सम्राट्। परन्तु गया—मेरी ही भूल से सब गया।" सिंहल-राजकुमार धातुसेन के शब्दों में 'आशा का केन्द्र ध्रुवतारा एक युवराज स्कन्द है।'

भटार्क

मगध का नवीन महाबलाधिकृत भटार्क स्वाभिमानी, महत्वा-कांक्षी, दृढ़प्रतिज्ञ और साहसी है। उसमें विवेक, शालीनता और गुणों को बहुधा पहिचानने की शक्ति भी आंशिक रूप में हैं। फिर भी वह अपने कुत्सित कर्मों की अवतारणा से उस साम्राज्य का एक लम्बे

समय तक शत्रु ही सिद्ध होता है जो उसके बाहुबल पर विश्वास कर उसे महाबलाधिकृत पद से सम्मानित करता है। भटार्क के चरित्र में सत् और असत् दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों की प्रतिष्ठा है। दोनों में यथावसर द्वन्द्व भी होता है किन्तु जीवन के पूर्व भाग में वह असद् वृत्तियों के प्रवाह में ही बहता है। जीवन के आरम्भ में कुसंग का प्रभाव उसकी असद्वृत्तियों को प्रोत्साहन देता है। अन्त में घटनाओं के घातप्रतिघात और सत्संग के प्रभाव से ही उसमें सद्वृत्तियों का स्फुरण होता है और वह सन्मार्ग ग्रहण करता है। भटार्क के चरित्र में यथास्थान द्वन्द्व का चित्रण होने के कारण वह रोचक एवं उपयोगी है।

भटार्क में महत्वाकांक्षा मानों जन्मजात है। नाटक में वह प्रवेश करते ही उन्नत पद के लिए आकुल दिखाई पड़ता है। वह चंचल शकराष्ट्र-मंडल के लिए सुयोग्य सेनापति भेजने की सम्मति देने के व्याज से अपने ही लिए सिफारिश करता है। उसकी अनावश्यक उत्सुकता को लक्षित कर ही पृथ्वीसेन उसको टाल देता है। भटार्क में स्वाभिमान की मात्रा भी बहुत अधिक है। वह पृथ्वीसेन के विरोध को अपना अपमान मानकर उसका प्रतिकार करने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। अनंतदेवी से वह कहता है—'महादेवी! कल सम्राट् के समक्ष जो विद्रूप और व्यंगबाण मुझ पर बरसाए गए हैं, वे अन्तस्तल में गड़े हुए हैं। उनके निकालने का प्रयत्न नहीं करूँगा, वे ही भावी विप्लव में सहायक होंगे।' भटार्क

अनन्तदेवी से प्रभावित है। अनन्तदेवी की कृपा से ही उसे महाबलाधिकृत का पद मिलता है। अतः भावनाओं के आवेश में पूर्वापर परिस्थितियों का विचार गंभीरतापूर्वक बिना किये ही वह अपने जीवन का महत्वपूर्ण निश्चय कर डालता है। भटार्क अनन्तदेवी के वाग्जाल में फँसकर पुरगुप्त को मगध के सिंहासन पर बैठाने के लिए प्रतिश्रुत होता है। उसके जीवन की यह सबसे बड़ी भूल है।

कुसंग में एक बार पड़ जाने से मनुष्य को शीघ्र छुटकारा नहीं मिलता। विपरीत मार्ग ग्रहण कर लेने के कारण उसके सद्‌गुण भी लोक पीड़ा को बढ़ाने वाले हो जाते हैं। स्थिरमति, दृढ़प्रतिज्ञ, साहसी भटार्क एक बार अपने प्रचंड पराक्रम और कूट कौशल द्वारा साम्राज्य के अन्दर अन्तर्द्रोह की ज्वाला फैलाकर समस्त देश को कम्पायमान कर देता है। कुमारगुप्त की कौशलपूर्ण मृत्यु, देवकी की हत्या का षड्यन्त्र, मालव में स्कन्द के विरुद्ध षडयन्त्र की योजना, प्रपंचबुद्धि द्वारा देवसेना की हत्या का प्रयास, इन सभी रोमांचकारी घटनाओं में भटार्क का हाथ है। नगरहार के युद्ध में तो भटार्क की पिशाच लीला अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। वह हूणों को सुरक्षा का मार्ग बताकर कुभा का बाँध ठीक मौके पर तोड़ता है और स्कन्द अपनी सेना सहित उसमें बह जाता है। भटार्क में प्रतिभा और शक्ति है। यह दुर्भाग्य की बात है कि वह उसका दुरुपयोग करता है।

भटार्क प्रकृति सिद्ध नीच नहीं है। महादेवी देवकी की हत्या के प्रयास में उसकी निर्मम कठोरता को छोड़कर हम प्रत्येक निरपराध हत्या अथवा मृत्यु के अवसर उसकी अन्तःस्थित मानवता का दर्शन करते हैं। महाप्रतीहार, महादंडनायक और महामन्त्री द्वारा आत्म-हत्या करने के पश्चात् हम भटार्क को वास्तविक खेद करते हुये पाते हैं—'परन्तु भूल हुई। ऐसे स्वामिभक्त सेवक।' देवकी की हत्या के प्रयत्न में, तथा मालव में स्कन्द के राज्यारोहण के समय षड़यन्त्र रचने के प्रसंगों में बन्दी बनाकर स्कन्द द्वारा छोड़ दिए जाने के कारण भटार्क का हृदय स्कन्द के प्रति उपकारों के बोझ से दब जाता है। वह प्रपंचबुद्धि के समक्ष खुले हृदय से स्वीकार करता है 'मेरी वीरता पर दुर्वह उपकार का बोझ लाद दिया।' कृतज्ञता, सात्विक हृदय की सहज अनुभूति है। उसके यथार्थ रूपसे उदय हो जाने पर मनुष्य कुमार्ग की ओर सहसा पैर नहीं रखना चाहता। भटार्क भी प्रपंचबुद्धि द्वारा देवसेना की बलि प्रस्तावना सुनकर आकुल हो उठता है—"... मैं कृतघ्नता से कलंकित होऊँगा और स्कन्दगुप्त से मैं किस मुँह से ...... नहीं, नहीं ......।" यहाँ पर उसके हृदय का अन्तर्द्वन्द्व बहुत स्वाभाविक है। अनन्तदेवी और पुरगुप्त से प्रति-श्रुति होने के कारण यथार्थ ही भटार्क की स्थिति 'पापपंक में लिप्त मनुष्य' की भाँति है जिसे कभी 'छुट्टी नहीं।' अतः 'कुकर्म उसे जकड़ कर अपने नागपाश में बाँध लेता है।' भटार्क नगरहार के युद्ध में स्कन्द के साथ विश्वासघात पाप-पंक में लिप्त होने के कारण

ही करता है। परन्तु उसके बाद ही पश्चाताप और अनुशोचन की वह मिर्च उसकी आखों में लगती हैं कि वे सदा के लिए खुल जाती हैं। कमला की भर्त्सनाएँ उसके विवेक को सजग कर पुष्ट कर देती हैं और वह उसके बाद स्कन्द के समक्ष सच्चे हृदय से आत्मसमर्पण कर सदा के लिए साम्राज्य का शुभाकांक्षी हो जाता है।

भटार्क एक सैनिक है। बाहुबल से, वीरता से और अनेक प्रचंड पराक्रमों से ही उसे मगध के महाबलाधिकृत का माननीय पद मिलता है। उसका लोहा भारत के क्षत्रिय मानते हैं। वह सैनिक की भांति अनुशासन प्रिय भी है। एक बार शर्वनाग को अपने विश्वास में लेकर उसे भविष्य में विश्वासघात न करने के लिए सचेत करता है। भटार्क में सैनिक की भाँति कर्त्तव्य की दृढ़ता भी है। वह एक बार,जो निश्चय करता है, चाहे वह ग़लत हो या ठीक उस पर अन्त तक आरूढ रहता है। स्कन्दगुप्त के स्थान पर पुरगुप्त को मूर्धाभिषिक्त करने की धुन में वह क्या नहीं कर डालता है। फिर भी उसकी वीरता दोषमुक्त नहीं है। वह न्याय और अन्याय का बिना विचार किए केवल शस्त्रबल पर उसे आश्रित करना चाहता है। इसके अतिरिक्त वह विलासिता को वीरता का भूषण मानता है। वह सैनिक से कहता है—"जो विलासी न होगा वह भी क्या वीर हो सकता है ? ....वीर एक कान से तलवारों की और दूसरे से नूपुरों की झनकार सुनते हैं।" सम्भवतः इन्हीं भ्रान्तियों के कारण स्कन्दगुप्त और गोविन्दगुप्त के साथ उसे द्वन्द्वयुद्ध में पराजित होना पड़ता है।

भटार्क सैनिक तो अवश्य है पर राजनीति से सर्वथा अनभिज्ञ है। यह उसकी महान् भूल है कि राजनैतिक ज्ञान के अभाव में भी वह राजाओं का नियामक बन बैठता है। महामंत्री पृथ्वीसेन आरम्भ में ही भटार्क को चेतावनी देता है—"परन्तु भटार्क! जिसे तुम खेल समझकर हाथ में ले रहे हो, उस काल भुजंगी राष्ट्रनीति की प्राण देकर भी रक्षा करना।" भटार्क पहिले तो महामंत्री के इस कथन को अवज्ञा के कानों से सुनता है। किन्तु नगरहार के युद्ध में आर्य्य साम्राज्य का सर्वस्वांत करने के पश्चात विवेक के जागृत होने पर महामंत्री के उपर्युक्त शब्द उसे स्मरण आते हैं। वह अनुभव करता है कि स्कन्दगुप्त ऐसा वीर, ऐसा उपयुक्त और ऐसा परोपकारी सम्राट्, उसकी भूल ही से गया।

भटार्क में यद्यपि कुसंगवश अनेक दुर्गुण आगए हैं किन्तु उसका चरित्र कलुषित नहीं होता है। अनन्तदेवी कामपिपासा युक्त संकेतों से उसे अपनी ओर आकृष्ट करने की भरपूर चेष्टा करती है, किन्तु वह वास्तव में अपना चरित्र नहीं खोता है। नाटक के तृतीय अंक के तृतीय दृश्य में यद्यपि वह अनन्तदेवी के साथ मद्यपानकर उसके संकेत पर जाता हुआ दिखाई पड़ता है और विजया इसी बात पर संदेह कर अनन्तदेवी से प्रणय वंचना के लिए झगड़ बैठती है किन्तु उसका वह संदेह निराधार है। भटार्क विजया को पत्नीरूप में स्वीकार करता है और इस बात का दम वह अन्त तक भरता रहता है। स्कन्दगुप्त के समक्ष वह पति होने के नाते

ही विजया की भर्त्सना करता है—

विजया—कौन भटार्क !

भटार्क—हाँ, तेरा पति भटार्क। दुश्चरित्रे ! सुना था कि तुझे देश सेवा करके पवित्र होने का अवसर मिला है, परन्तु 'हिंस्र पशु कभी एकादशी का व्रत करेगा—कभी पिशाची शान्ति पाठ पढ़ेगी।"

भटार्क यदि वास्तव में दुश्चरित्र होता तो वह न तो पति होने का अपना दावा करता और न उसे विजया को दुश्चरित्रता के कारण बुरा-भला ही कह सकता।

भटार्क में शील और विनय का सर्वथा अभाव नहीं है। वह अपनी माता कमला की भर्त्सनाओं को नतमस्तक होकर सुनता है। और उन्हें हृदयंगम भी करता है। उज्जयिनी में वह अपनी माता से प्रभावित हो राजनैतिक प्रपंचों से हटकर घर चलने के लिए तैयार हो जाता है। दुर्भाग्यवश गोविन्दगुप्त के सहसा वहाँ पर आकर उसे वन्दी कर लेने के कारण उसका जीवन प्रवाह पूर्ववत् बना रहता है। नगरहार युद्ध के पश्चात् भटार्क अपनी माता के निन्दात्मक कठोर वचनों को सुनकर तो सदा के लिए अस्त्र ही त्याग देता है। वह अपनी माता की आशाओं को विफल नहीं करना चाहता है। वह संसार के समस्त लांछनों का अपनी माता के कारण ही तिरस्कार करता है। भटार्क की सच्चरित्रता और अटल मातृभक्ति ही उसे जीवन के

सन्मार्ग पर लाकर खड़ा कर देती है। इसके अभाव में वह संभवतः नर न होकर नर-पिशाच हो जाता।

भटार्क ने स्कन्दगुप्त के विरुद्ध जो आचरण किया उसमें उसका स्कन्द के प्रति द्वेष नहीं है। वह तो स्कन्द के व्यक्तित्व एवं वीरता से सदैव प्रभावित रहता था। सम्बन्ध-निर्वाह की दृढ़ भावना और राजनैतिक भ्रान्तिवश ही वह साम्राज्य विरोधी कार्यों में संलग्न होता है। विवेक के सम्यक् रूप से जागृत होने पर वह स्कन्दगुप्त और साम्राज्य की सच्चे हृदय से सेवा करता है। विजया का शव गाड़ने के लिए भूमि खोदते हुए जो रत्नगृह निकलते हैं उन्हें लोभ-वश अपने पास न रखकर वह साम्राज्य-सेवाहित स्कंद को सौंप देता है और अन्तिम समय तक स्कंद का अनन्य भाव से अनुगामी बना रहता है।

पर्णदत्त

गुप्त साम्राज्य का महाबलाधिकृत पर्णदत्त स्वामिभक्ति, शूरता, साहस, धैर्य्य और कर्त्तव्य परायणता का श्रेष्ठतम उदाहरण है। वह साम्राज्य की मान-मर्य्यादा की रक्षा के लिए सदैव प्रयत्नशील है और उस ओर दूसरों को उदासीन देखकर वह क्षुब्ध हो उठता है। नाटक के आरम्भ में ही 'अयोध्या में नित्य नये परिवर्तन' और युवराज स्कन्दगुप्त की 'अपने अधिकारों के प्रति उदासीनता' देखकर वह भविष्य के लिए आकुल और चिन्तित प्रतीत होता है। देश के लिए सच्चे मंगल की भावना से प्रेरित होकर वह स्पष्टवादिता का

आश्रय लेता है। स्कन्दगुप्त के समक्ष अपने यथार्थ मनोभावों को वह व्यक्त करता है—"युवराज इसीलिए मैंने कहा था कि आप अपने अधिकारों के प्रति उदासीन हैं जिसकी मुझे बड़ी चिन्ता है। गुप्त साम्राज्य के भावी शासक को अपने उत्तरदायित्व का ध्यान नहीं।" स्कन्दगुप्त को प्रभावित और सचेष्ट करने के लिए पर्णदत्त व्यंग्य का भी प्रयोग करता है—"गुप्तकुल के शासक इस साम्राज्य को 'गले पड़ी' वस्तु समझने लगे हैं।' किन्तु इन व्यंग्यों के मूल में उपहास अथवा कोरी कदर्थना नहीं है वरन् इसमें सच्ची देशभक्ति अन्तर्निहित है। पर्णदत्त स्कन्दगुप्त को प्रोत्साहित कर साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह की सृष्टि नहीं करना चाहता। वह तो साम्राज्य का सेवक है। इस नाते यदि कोई दूसरा असावधानी से इस तरह की बात कहता है जिसमें विद्रोह की भावना हो तो वह उबल पड़ता है। चक्रपालित ज्यों ही स्कन्दगुप्त और पर्णदत्त के समक्ष 'गुप्तकुल के अव्यवस्थित उत्तराधिकार नियम' की बात उठाता है वैसे ही पर्णदत्त उसे डांट कर कहता है—"चक्र! यदि यह बात हो भी, तो भी तुमको ध्यान रखना चाहिए कि हम लोग साम्राज्य के सेवक हैं। असावधान बालक! अपनी चञ्चलता को विष-वृक्ष का बीज न बना देना।" पर्णदत्त के हृदय की सात्विकता, स्वामि-भक्ति एवं स्वदेशप्रेम इसी से व्यक्त होते हैं कि ज्योंही स्कन्द क्षात्रधर्म के अनुसार शरणागत-रक्षा-हित मालव के दूत को सहायता का आश्वासन देता है त्योंही स्कन्द के लिए पर्णदत्त के मुँह से

आशीर्वचन और साम्राज्य के लिए मंगलमयी कामना फूट पड़ती है।—'युवराज! आज यह वृद्ध हृदय से प्रसन्न हुआ और गुप्त-साम्राज्य की लक्ष्मी भी प्रसन्न होगी।' पुनश्च—'कुछ चिंता नहीं युवराज! भगवान् सब मंगल करेंगे......।'

नाटक में पर्णदत्त का सक्रिय युद्ध-व्यापार विशेष रूप से चित्रित नहीं है। द्वितीय अङ्क में चक्रपालित द्वारा यह सूचना मिलती है—'वह सौराष्ट्र की चञ्चल राष्ट्रनीति की देख रेख में लगे हैं" जो उसके महत्त्व का यथेष्ट परिचायक है। फिर भी उनके प्रचण्ड पराक्रम और अद्वितीय रण-कौशल का ज्ञान स्कन्द की उक्तियों द्वारा नाटक के आरम्भ में ही प्राप्त हो जाता है। स्कन्द के शब्दों में पर्णदत्त की 'वीरता की लेखमाला शिप्रा और सिन्धु की लोल लहरियों से लिखी जाती है, शत्रु भी उस वीरता की सराहना करते हुए सुने जाते हैं।" इस उक्ति में चाटुकारिता नहीं है, वरन् गुणों की यथार्थ अनुभूति और अवसरानुकूल उनकी अभिव्यक्ति है। इसी प्रकार पर्णदत्त के एक कथन में भी उसके रणोत्साह के दर्शन होते हैं—"इस वृद्ध ने गरुड़ध्वज लेकर आर्य्य-चन्द्रगुप्त की सेना का सञ्चालन किया है। अब भी गुप्त-साम्राज्य की नासीर-सेना में—उसी गरुड़ध्वज की छाया में—पवित्र क्षात्रधर्म का पालन करते हुए उसी के मान के लिए मर मिटूँ—यही कामना है।"

सङ्कट ही धैर्य्य और साहस की परीक्षा की कसौटी है। पर्णदत्त उसमें खरा उतरता है। वैभव और ऐश्वर्य के पश्चात् अकिंचन जीवन

वड़े वड़े साहसियों एवं स्थिर मति वालों को भी विचलित कर देता है। ऐसी परिस्थिति में ही पुरुपार्थ एवं धैर्य्य द्वारा अपने सत्व को स्थिर रखने में जीवन की महानता है। इस दृष्टि से पर्णदत्त का चरित्र अत्यन्त गौरवपूर्ण है।

नगरहार के युद्ध में स्कन्द के विलुप्त होने के पश्चात् साम्राज्य अत्यन्त अस्तव्यस्त दशा को प्राप्त हो गया। 'आर्य्य पर्णदत्त ने साम्राज्य के विखरे हुए रत्न एकत्रित किए..., वे सव निरवलम्ब हैं।' पर्णदत्त उन निराश्रितों के सङ्गठन एवं उनकी सेवा का कार्य्य अपनाता है। उसके समक्ष अपार कठिनाइयाँ हैं। अन्न और वस्त्र की समस्या तो प्रधान है। अतः उसे 'सूखी रोटियाँ वचाकर रखनी पड़ती हैं। 'जिन्हें कुत्तों को देते हुए संकोच होता था, उन्हीं कुत्सित अन्नों का संचय' उसे करना पड़ता है। अपनी इस अकिञ्चन दशा पर उसका हृदय विलख उठता है। किन्तु साहस और धैर्य्य का अवलम्व लेकर 'वहुत से दुर्दशाग्रस्त वीर हृदयों की सेवा के लिए' वह मानसिक उथल-पुथल का समाधान करता है और उद्देश्य प्राप्ति के लिए प्रत्येक परिस्थिति का सामना करने को कटिवद्ध होता है। वह नितान्त आशावादी है। उसे आशा है—'तुम जीते रहो, तुम्हारा उद्देश्य सफल होगा।' अतः जिस काम को उसने कभी नहीं किया उसे भी करने को वह उद्यत हो जाता है। पर्णदत्त 'जिसके लोहे से आग वरसती थी, वह जङ्गल की लकड़ियाँ वटोर कर आग सुलगाता है।' वह सड़कों पर 'भीख दो वावा! देश के वच्चे भूखे हैं, असहाय हैं;

कुछ दो बाबा" कहता हुआ भीख माँगता है। पर्णदत्त परिस्थिति-वश परमार्थहित के लिए इस नितान्त गर्हित भिक्षावृत्ति का आश्रय लेता है। पर इस दशा में भी वह आत्मसम्मान नहीं त्यागता। भिक्षा माँगने के लिए गीत गाती हुई देवसेना के प्रति अशिष्ट पुरुषों के कुत्सित शब्दों के सुनते ही उसका खून खौल उठता है। वह दाँत पीसकर ललकार उठता है—नारकीय दुरात्मा, विलास का नारकीय कीड़ा। बालों को सँवार कर, अच्छे कपड़े पहन कर, अब भी घमंड से तना हुआ निकलता है? ××××× देश पर यह विपत्ति, फिर भी यह निराली धज?'

देश वासियों की विलासिता और स्वार्थान्धता देखकर उसका हृदय प्रकृत्या विद्रोही हो उठता है। वह देवसेना से कहता है—"अन्न पर स्वत्व है भूखों का और धन पर स्वत्व है देशवासियों का। ············विलास के लिए उनके पास पुष्कल धन है और दरिद्रों के लिए नहीं।" निश्चय ही उसके ऊपर सैकड़ों अनाथ भूख से तड़पते वीर बालकों का भार है। उसके हृदय में समाज की विलास-प्रियता देखकर इस प्रकार के साम्यवादी एवं विद्रोही विचारों का उदय होना स्वाभाविक है। पर्णदत्त की अवसर जन्य परमुखापेक्षिता आदर्श सम्मत है। उसकी तत्परता और त्याग भावना से प्रभावित होकर जब लोग उसकी जयजयकार करते हैं तो वह, अपनी धुन का धनी, उसकी भी उपेक्षा करता है और देश के लिये त्याग और बलिदान की रट लगाता है—'मुझे जय नहीं चाहिए—भीख चाहिए। जो दे सकता

हो अपने प्राण, जो जन्मभूमि के लिए उत्सर्ग कर सकता हो जीवन, वैसे वीर चाहिए; कोई देगा भीख में ।' उसकी पुकार खाली नहीं जाती। स्कन्दगुप्त स्वयं प्रकट होकर अपने को समर्पित करता है। वीर हृदय की सच्ची कामना कभी निष्फल नहीं होती। पर्णदत्त का चरित्र इसकी पुष्टि करता है। उसने नाटक के आरंभ में स्कंद के समक्ष सच्चे हृदय से कहा था—अब भी गुप्त-साम्राज्य की नासीर सेना में उसी गरुड़ध्वज की छाया में पवित्र क्षात्रधर्म का पालन करते हुए उसी के मान के लिए मर मिटूँ—यही कामना है।" पर्णदत्त की यह कामना यथार्थरूप में प्रतिफलित होती है। हूणों से अन्तिम युद्ध में वह वीरता पूर्वक लड़ता है। सम्राट् को बचाने में वृद्ध पर्णदत्त की मृत्यु होती है; गरुड़ध्वज की छाया में वह लिटाया जाता है। पर्णदत्त का चरित्र, निस्सन्देह, अनुपम त्याग, कर्त्तव्य-निष्ठा, स्वदेशानुराग आदि आदर्श गुणों का सन्निधान है।

शर्वनाग

शर्वनाग सहजशूर, दृढ़ संकल्पवान्, सरल और पुरुपार्थी है। उसकी जीवनधारा परस्पर दो विरोधी मार्गों में प्रवाहित होती है। पहिले वह भटार्क, प्रपंचबुद्धि एवं अनंतदेवी आदि के षड़यन्त्र में सम्मिलित हो स्वार्थवश साम्राज्यविरोधी कार्य्य करता है। बाद में परिस्थितियों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त होने पर वह आत्मसुधार कर साम्राज्य का सच्चा हितैपी बन जाता है।

भटार्क आदि के षड्यन्त्र में सम्मिलित होने के पूर्व उसका अन्तःकरण शुद्ध और सात्विक है। उसे अपने पुरुषार्थ पर पूर्ण विश्वास है। वह किसी से भयभीत नहीं होता। प्रपंचबुद्धि के चौंकने पर वह कहता है—"परन्तु आप चौंकते क्यों हैं। मैं तो कभी यह चिंता नहीं करता कि कौन आया या कौन आएगा। ....मैं खड्ग हाथ में लिए प्रत्येक भविष्यत् की प्रतीक्षा करता हूँ। जो कुछ होगा, वही निवटा लेगा।" उसके इस कथन में उसकी विशुद्ध वीरता व्यंजित होती है।

शर्वनाग के अंतःकरण की शुद्धता का परिचय हमें महादेवी देवकी की हत्या वाले प्रस्ताव के उत्तर में मिलता है। भटार्क जब उक्त प्रस्ताव उसके समक्ष रखता है, तब वह अत्यन्त दृढ़ता और निर्भीकता से उसका विरोध करते हुए उत्तर देता है—"कायरता! अबला महादेवी की हत्या। किसी प्रलोभन में तुम पिशाच बन रहे हो ....नहीं भटार्क! लाभ ही के लिए मनुष्य सब काम करता तो पशु बना रहना ही उसके लिए पर्य्याप्त था। मुझ से यह काम नहीं होने का।"

शर्वनाग का अन्तःकरण साहसपूर्ण एवं विशुद्ध है किन्तु फिर भी वह कुचक्रियों के फेर में पड़ता है। इसके मूल में उसकी अर्थहीनता तथा कुसंग का प्रभाव है। उसकी स्त्री के 'अभावों का कोप कभी खाली नहीं' तथा उसकी 'भर्त्सनाओं का भंडार अक्षय है।' उसकी स्त्री रामा उसे नित्य ही कहती आती है कि 'तू निकम्मा है, अपदार्थ

है, कुछ नहीं है। शर्वनाग को एक सद्ग्रहस्थ की भाँति अपनी परिणीता भार्य्या के प्रति अहम्भावहीन प्रीति है। वह 'क्रोध से गरजते हुए सिंह की पूँछ उखाड़ सकता है' परन्तु 'सिंह-वाहिनी' (अपनी स्त्री) को देखकर उसके "देवता कूच कर जाते हैं।" वह अपनी भार्य्या रामा से कहता है—'घबराओ मत समझाकर कहो।' अस्तु वह अपनी नारी की प्रेरणा से अपने को कुछ साबित करने के लिए ही कंचन प्राप्ति की चेष्टा करता है और उसके लिए कुकर्म में प्रवृत्त होता है। कुसंग का प्रभाव भी उसके सरल हृदय पर शीघ्र पड़ता है और मदिरा पान करने पर तो वह सर्वथा विवेक शून्य हो जाता है। इन्हीं परिस्थितियों में शर्वनाग महादेवी की हत्या के लिए प्रस्तुत हो जाता है।

शर्वनाग के चरित्र में परिवर्तन, घटनाओं के घातप्रतिघात से तथा उच्च और महान् व्यक्तित्व के सम्पर्क में आने से होता है। महादेवी की हत्या के प्रयास में वह स्कन्द गुप्त के प्रबल पुरुषार्थ के कारण विफल होता है। स्कन्द गुप्त उसके जघन्य कर्म के प्रतिकार स्वरूप प्राणदण्ड की आज्ञा न देकर उसे क्षमा दान देता है। शर्वनाग का हृदय इस उदारता पूर्ण देवोपम व्यवहार को देखकर पलट जाता है। वह आत्मग्लानि और पश्चत्ताप के आँसुओं से अपना कलुषित हृदय धोने लगता है—" सम्राट्! मुझे वध की आज्ञा दीजिये, ऐसे नीच के लिए और कोई दण्ड नहीं है.......... जितनी यंत्रणा से यह पापी प्राण निकाला जाय, उतना ही उत्तम

होगा .... दुहाई सम्राट् की ! मुझे वध की आज्ञा दीजिए, नहीं तो आत्महत्या करूंगा। मैंने देवता के प्रति मैंने दुराचार किया था। ओह !" इस प्रकार आत्मग्लानि की अभिव्यक्ति द्वारा वह अपने कुकर्मों की कालिख अपने चरित्र पर से धोता है। ग्लानि की अनुभूति आत्मसुधार का प्रथम सोपान है। शर्वनाग अपने दुराचारों को स्पष्टतया सार्वजनिक रूप से अभिव्यक्त कर दिव्याचरण द्वारा आत्मोन्नति की ओर अग्रसर होता है।

सुबह का भूला यदि संध्या को घर आजाय तो वह भूला नहीं कहलाता। शर्वनाग जीवन की एक भूल को पहिचान कर जबसे सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त होता है तबसे फिर वह विपथगामी नहीं होता। स्कन्द की न्यायसभा में देवकी और स्कन्दगुप्त की अनुपम उदारता और क्षमाशीलता से प्रभावित होकर वह प्रतिज्ञा करता है—"आशीर्वाद दो जगद्धात्री कि मैं देवचरणों में आत्मबलि देकर जीवन सफल करूं।" शर्वनाग उसका यथावत् पालन भी करता है। अन्तर्वेद का विषयपति होकर वह साम्राज्य की सच्ची सेवा में तत्पर है। उत्को[illegible] देश में साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह कराने वाले हूणों के [illegible] ह भण्डा फोड़ता है। वह विजया के साथ देश [illegible] वक को देश सेवा के लिए तत्पर करने [illegible] वह अपने 'गुदड़ी के लालों का' [illegible] र लुटाने को प्रस्तुत

था' लुटेरे हूणों को लुटा देता है। देश सेवा के लिए आत्मजों का बलिदान आत्मबलि से भी अधिक महत्वपूर्ण है।

शर्वनाग का चरित्र विशेष घटनापूर्ण नहीं है। उसका व्यक्तित्व सामान्य कोटि का है तथा चरित्र विकास भी परिमाण में स्वल्प है। उसके सरल जीवन में कुमार्ग और सन्मार्ग के बीच जो लौटा फेरी है वह विशेष महत्वपूर्ण है और इस दृष्टि से उसका चरित्र चित्रण परम स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक पद्धति पर है।

बन्धुवर्मा

'वसुन्धरा का शृङ्गार, वीरता का वरणीय बंधु, मालवमुकुट' आर्य बन्धुवर्मा, साहसी, शूर और परम देश भक्त नरेश है। विपत्ति में धैर्य्य, युद्ध में उत्साह और वैभव तथा उत्कर्ष में विनम्रता—ये महान् गुण उसके व्यक्तित्व को गौरवान्वित करते हैं। गुप्त साम्राज्य से सन्धि के नियमानुसार बन्धुवर्मा गुप्त सम्राट के पास सहायतार्थ दूत भेजता है किन्तु वह वीर दूसरों पर ही अवलम्बित रहने वाला नहीं है। आक्रमणकारियों से दुर्ग के घिर जाने पर वह धैर्य्य नहीं खोता वरन् वह अन्तिम क्षण तक शत्रु से मोर्चा लेने के लिए प्रस्तुत होता है और डटकर युद्ध करता है।

बन्धुवर्मा रणकुशल और पराक्रमी है। गान्धार-घाटी के रणक्षेत्र में उसके नेतृत्व में असम साहसी आर्य सैनिकों ने अपूर्व सफलता प्राप्त की। उसने स्कन्द से 'नदी की तीक्ष्णधारा को लाल कर

बहा देने' की जो प्रतिज्ञा की, अपने प्राणों की आहुति देकर, उसे पूरा किया। बन्धुवर्मा कूटनीति और स्वार्थबुद्धि से सर्वथा परे है। और इसी कारण उक्त रणक्षेत्र में वह ऐसा स्थान ग्रहण करता है जो सबसे अधिक संकटापन्न है। स्कन्द उसे स्वयं वहाँ पर नहीं रखना चाहता। किन्तु यह बन्धुवर्मा का ही साहस एवं कर्तव्य-भावना है कि वह संकट के समुद्र में सीधे फांद पड़ता है। वह उक्त स्थल पर दृढ़ता के साथ अन्त तक डटा रहता है तथा अपने अतुलनीय शौर्य्य और पराक्रम से अपने जीवन का बलिदान देकर शत्रु पर पूर्ण विजय प्राप्त करता है।

बन्धुवर्मा में क्षत्रियोचित साहस और शौर्य के अतिरिक्त आदर्श और कर्त्तव्य के लिए त्याग भाव एवं शील-सौजन्य पूर्ण रूप से है। स्कन्दगुप्त की सहायता द्वारा विदेशियों के आक्रमण से मालव की रक्षा हो जाने के बाद वह कृतज्ञता प्रेरित हो इस वीर परोपकारी के लिए' और अपना 'सर्वस्व अर्पित' करने की प्रतिज्ञा करता है और उसे पूर्णतया चरितार्थ करता है। बन्धुवर्मा के पास उसका सर्वस्व, मालव का राज्य और अपना जीवन—ये दो ही वस्तुएँ हैं। राज्य पर उसका अधिकार उसके आत्मीय जनों के साथ है। अतः स्कन्द को राज्य समर्पण करने का विचार वह अपने स्त्री, भाई, बहिन आदि के सामने रखता है। उसकी रानी जयमाला के अतिरिक्त उसका उक्त प्रस्ताव सबको स्वीकृत है। जयमाला को असहमत देख वह बल प्रयोग या हठधर्मी से उसका

उल्लंघन नहीं करता वरन् उसी को मालव का राज्य सौंप देता है। वह स्वयं आर्य-साम्राज्य सेना का एक साधारण पदातिक सैनिक' जीवन व्यतीत करने का निश्चय करता है। जयमाला भी अपने पति के त्याग पूर्ण व्यक्तित्व से प्रभावित हो अपने दुराग्रह के लिए उससे क्षमा मांगती है तथा उसके प्रस्ताव का समर्थन करती है। मालव में स्कन्दगुप्त के राज्याभिषेक के समय गोविन्दगुप्त बन्धुवर्मा की उचित प्रशंसा करते हैं—'इनका स्वार्थ-त्याग दधीचि के दान से कम नहीं।'

बन्धुवर्मा का शील-सौजन्य उसके साहस, पराक्रम और त्याग से कम प्रशंसनीय नहीं है। वैभव और उत्कर्ष काल में विनय और शील महापुरुषों का भूषण है। मालवदुर्ग के अवरोध काल में जब श्रेष्ठि-कन्या विजया उसके शरणागत हो प्राण रक्षा के लिए आकुल है तब जयमाला उस पर व्यंग्य करती है 'स्वर्णरत्न की चमक देखने वाली आँखें बिजली सी तलवारों के तेज को कब तक सह सकती हैं।' बन्धुवर्मा को यह व्यंग्य अनुपयुक्त और शील विरुद्ध प्रतीत होता है। वह अत्यन्त सहिष्णुता के साथ अपनी स्त्री को समझाता है—'प्रिये! शरणागत और विपन्न की मर्य्यादा रखनी चाहिए।'

मालव की सभा में गोविन्दगुप्त जब वृद्धावस्था के कारण महाबलाधिकृत का पद ग्रहण करने में असमर्थता प्रकट करता है तथा उक्त पद पर बन्धुवर्मा को ही अधिष्ठित करने का आग्रह करता है तब

वह अत्यन्त विनम्रता के साथ अपने शील तथा गुरुजनों के प्रति आदर भाव का सुन्दर परिचय देता है—'अभी नहीं आर्य ! आप के चरणों में बैठकर यह बालक स्वदेश-सेवा की शिक्षा ग्रहण करेगा। मालव के राज कुटुम्ब का एक-एक बच्चा, आर्य जाति के कल्याण के लिए जीवन उत्सर्ग करने को प्रस्तुत है। आप जो आज्ञा देंगे वही होगा।' उसका त्याग निस्वार्थ है। बन्धुवर्मा ने साम्राज्य के लिए अपना राज्य और प्राण तक अर्पित किया। उसमें उसका कोई स्वार्थ था महत्वकांक्षा नहीं है। स्कन्दगुप्त स्वयं इस बात को उसके न रहने पर भी आजीवन स्मरण करता है—'जिसने निःस्वार्थ भाव से सब कुछ मेरे चरणों में अर्पित कर दिया था, उससे कैसे उऋण होऊँगा।' बन्धुवर्म्मा का चरित्र पराक्रम, शील, स्वदेश प्रेम, कर्त्तव्य तत्परता आदि की दृष्टि से स्कन्दगुप्त के चरित्र की टक्कर का है। नाटककार ने नाटक के बीच में ही उसकी मृत्यु दिखाकर उसके चरित्र को नायक के चरित्र से अधिक प्रभाव पूर्ण नहीं होने दिया।

मातृगुप्त

मातृगुप्त प्रतिभावान, सहृदय एवं भावुक राष्ट्रीय कवि है। ...व्यसाधना को ही अपना उपजीव्य बनाकर वह जीवन में प्रवेश ...ता है। उसमें उसे यथेष्ट अर्थ-लाभ न होने से वह अपने मित्र ...न की प्रेरणा एवं मुद्गल के सहयोग से राजनैतिक क्षेत्र में ...करता है।

मातृगुप्त में कार्य्य-शक्ति और साहस यथेष्ट परिमाण में है। वह राज्यचक्र में किसी महत्वाकांक्षावश नहीं आता। धातुसेन उसे भारतीय राजनीति का क्रान्तिपूर्ण वातावरण पहिले ही बता देता है —"निर्मेघ शून्य आकाश में शीघ्र ही अनेक वर्ण के मेघ रंग भरेंगे। एक विकट अभिनय का आरंभ होने वाला है………" अतः देश दशा से पूर्णतया परिचित हो उसकी सेवा की पवित्र भावना से उद्बुद्ध मातृगुप्त विशुद्ध साहित्यसेवी से देशसेवक हो जाता है। वह मालव में भटार्क को बन्दी बनाने में गोविन्दगुप्त को सहयोग देता है तथा प्रपंचबुद्धि से देवसेना को बचाने में वह ऐसी तत्परता और कौशल दिखाता है कि स्कन्दगुप्त प्रसन्न होकर उसे काश्मीर का शासक नियुक्त करता है।

मातृगुप्त देश की दुरवस्था पर बैठकर, केवल आँसू बहाने वाला नहीं है। निराशा केवल थोड़ी देर के लिए ही उसका हृदय झाँक कर चली जाती है। गान्धार युद्ध के पश्चात देश को संगठित करने के लिए उसने 'उद्बोधन के गीत गाए, हृदय के उद्गार सुनाए। परन्तु पाँसा पलट कर न पलटा' फिर तो विजया से जरा सी प्रेरणा मिलते ही 'वह गली गली, कोने, कोने पर्य्यटन करने और पैर पकड़कर लोगों को मनाने' के लिए कटिबद्ध होकर कर्म्मक्षेत्र में कूद पड़ता है। मातृगुप्त की वाणी में देश की पुकार, अवस्था का वास्तविक दिग्दर्शन और मृतप्राय हृदयों में भी नवजीवन का उत्साह फूंक देने वाली संजीवनी शक्ति है। आर्य्य-

वीर उसकी संगीत लहरी से प्रोत्साहित हो भीषण-संग्राम में शत्रु को पराजित करते हैं। मातृगुप्त सच्चा राष्ट्रकवि है। अपनी लेखनी और तलवार दोनों ही से राष्ट्र सेवा करना उसके जीवन का परम कर्तव्य है।

प्रकृति प्रेम मातृगुप्त के रोम रोम में व्याप्त है। उसकी कोमल कल्पना के प्राङ्गण में मूक प्रकृति मुखर हो उठती है। काश्मीर के हिमाच्छादित हिम-शृंग और अमृत-सरोवर उसके कंठ में बैठकर सरस्वती को रुलाते और हँसाते है। धातुसेन के शब्दों में उसकी "कोमल कल्पना वाणी की वीणा में झंकार उत्पन्न करती है।"

काव्य साधना वह केवल उदर पूर्ति के लिए नहीं करता है वरन् उसमें उसकी सच्ची निष्ठा है। काव्य उसके भूखे हृदय का आहार है। इसके लिए वह दरिद्रता का कठोर व्यंग्यात्मक अट्टहास सुनता है किन्तु वह सरस्वती की उपासना-मंदिर का द्वार नहीं छोड़ता। वह जीवनमृत्यु के संघर्ष में उसी के द्वारा अमरपथ का पथिक बनता है। उसकी काव्य प्रतिभा समादृत है और समष्टि के लिए श्रेयस्कर है।

मातृगुप्त का प्रणय भावुकता प्रधान है। गणिका से प्रेम करके भी वह आलम्बन के संयोग और वियोग की यथार्थ अनुभूति करता है। आलम्बन के बाजारू होने पर भी उसका प्रणय बाजारू नहीं है। मालिनी काश्मीर की सुप्रसिद्ध वार-विलासिनी है।

मातृगुप्त उसको अपने हृदय की 'आराध्य देवता' बनाकर उसकी मानसपूजा करता है। उसका संयोग उसके भिखारी संसार पर स्वर्ण की वर्षा करता है, वह उसके परिरम्भ मुकुल में वन्दी अलि सा काँपता है। उसके प्रेम का प्याला छलक कर अपनी लहरियों से उसके सुख को माँपने लगता है। मातृगुप्त के काश्मीर छोड़ देने पर मालिनी तो उसे भूलकर 'सोने के लिए नन्दन का अम्लान कुसुम' बेंच डालती है किन्तु मातृगुप्त उसकी स्मृति को कंगाल की निधि की भाँति अपनी हृदय-मंजूषा में सुरक्षित रखता है। मालिनी अपने पतिताचरणों के कारण भौतिक अर्थ में तो मातृगुप्त की प्रणयिनी नहीं रहती किन्तु मातृगुप्त का मानस संबन्ध उससे चिरस्थायी रहता है। वह अत्यन्त करुणा-कलित हृदय से मालिनी को विदा करते हुए कहता है—"मैं इतना दृढ़ नहीं हूँ मालिनी! कि तुम्हें इस अपराध के कारण भूल जाऊं। पर वह स्मृति दूसरे प्रकार की होगी। उसमें ज्वाला न होगी। धुआँ उठेगा और तुम्हारी मूर्ति धुंधली होकर सामने आवेगी।"

विस्तार की दृष्टि से मातृगुप्त का चरित्र चाहे महत्वपूर्ण न हो किन्तु सरस काव्य मय अनूठी उक्तियाँ नाटक में यत्र तत्र उसके मुख से सुनकर हम उसके सरल एवं भावुक व्यक्तित्व को सहसा भुला नहीं सकते। मातृगुप्त के चरित्र में नाटककार का कवि हृदय स्पष्ट रूप से झाँक रहा है। यही उसका महत्व और उसकी विशेषता है।

धातुसेन

सिंहल का राजकुमार धातुसेन, उपनाम कुमारदास, विनोदी विवेकयुक्त एवं वाक्पटु है। वह विदेशी होते हुए भी भारतीय संस्कृति से प्रभावित है। वह भारत भ्रमण के लिए तथा अपने पूर्व परिचित मित्र प्रख्यातकीर्ति से मिलने के लिए भारत आता है किन्तु यहाँ की क्रान्तिपूर्ण राजनैतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का अनुशीलन कर वह भारतीय गौरव तथा संस्कृति की रक्षा के लिए सक्रिय भाग लेता है।

धातुसेन की विनोद पूर्ण वाक्पटुता का परिचय नाटक के प्रथम अंक के द्वितीय दृश्य में ही मिल जाता है। वह हास्य मिश्रित व्यंग्योक्तियों से सम्राट कुमारगुप्त को निरुत्तर सा कर देता है। समस्त राजसभा उसकी वग्मिकता से प्रभावित हो जाती है और उसे निरन्तर आदर पूर्वक स्मरण करती है।

धातुसेन की विनोदशीलता केवल वाह्य है। वस्तुतः वह गंभीर विचारशील है और परिस्थितियों का विश्लेपण कर निष्कर्ष पर पहुँचने की उसमें अपूर्व क्षमता है। वह नाटक का प्रथम पात्र है जो कुमारगुप्त कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का विवेचन कर यह घोषणा करता है—"विषय-विह्वल वृद्ध सम्राट तरुणी की आकांक्षाओं के साधन बन रहे हैं। काले मेघ क्षितिज में एकत्र हैं, शीघ्र ही अन्धकार होगा। परन्तु आशा का केन्द्र ध्रुवतारा एक युवराज 'स्कन्द' है।"

धातुसेन कोरा विचारक ही नहीं है वरन् वह अपने आदर्शों के अनुरूप कठोर कर्मक्षेत्र में अवतरित हो कार्य्य करने वाला भी है। वह स्कन्द के साथ बन्दीगृह में देवकी के उद्धार के लिए जाता है। देश में ब्राह्मणों और बौद्धों के बीच फैले हुए साम्प्रदायिक विद्वेष को दूर करने की वह सफल चेष्टा करता है। उसके गम्भीर धर्मज्ञान एवं पाण्डित्यपूर्ण तर्कों से प्रभावित होकर ब्राह्मण और बौद्ध अपना पारस्परिक द्वेष भूल जाते हैं। आततायी हूणों के षड्यन्त्रों को तोड़कर उन्हें विफल मनोरथ करने में वह महत्त्व-पूर्ण भाग लेता है। धातुसेन अपने साहस और पराक्रम से अनन्त-देवी हूण सेनापति आदि को बन्दी बनाकर न केवल प्रख्यात कीर्ति के जीवन की ही रक्षा करता है, वरन् विदेशियों और राष्ट्रद्रोहियों के महान् विनाशकारी षड्यन्त्र से देश को बचाता है।

आर्यराष्ट्र और भारतभूमि के प्रति उसकी कार्य्यतत्परता निःस्वार्थ है। देश पर विदेशियों के आक्रमण तथा अन्तर्विद्रोह से उत्पन्न परिस्थितियों में, उच्च पद की अभिलाषा से, न तो वह भटार्क की भाँति षड्यन्त्र रच कर विदेशियों को आमन्त्रित करता है और न वह अर्थलिप्सा से शर्वनाग की भाँति राजपुरुषों की हत्या आदि में सहयोग देने की कल्पना करता है। वह भारत की विश्वबन्धुत्व की भावना, भारतीय ज्ञानगरिमा, भारतीय संस्कृति एवं भारत के मनोहर प्राकृतिक दृश्यों से अत्यन्त प्रभावित है। वह आत्मप्रेरणा से ही प्रख्यातकीर्ति से कहता है—"भारत के कल्याण के लिए मेरा सर्व्वस्व

अर्पित है।" भारत के प्रति उसका निःस्वार्थ आत्मसमर्पण भाव उसके हृदय की सात्विक मनोवृत्तियों का परिचायक है।

धातुसेन स्वयं गुणज्ञ और गुणग्राहक है। मातृगुप्त की कल्पनाशील भावुकता और देवकी की देवोपम उदारता का यथार्थ अनुभव कर वह उनकी मुक्तकण्ठ से सराहना करता है। गुणवान् मनुष्य ही गुणों की सच्ची पहिचान कर सकते हैं। धातुसेन की गुणग्राहकता उसके स्वयं गुणी होने की द्योतक है।

मुद्गल

मुद्गल नाटक का कल्पित पात्र है। नाटक में उसका प्रयोग हास्य विधान, अनभिनीत घटनाओं की सूचना और यत्रतत्र राजकीय समाचारों के आदान-प्रदान के योग में हुआ है। उसके चरित्र में किसी विशिष्ट आदर्श की प्रतिष्ठा नहीं है।

मुद्गल महादेवी देवकी का संदेश वाहक है। प्रथम अंक के द्वितीय दृश्य में वह कुमारगुप्त से महादेवी का यह अनुरोध प्रकट करने आता है कि वे युवराज भट्टारक की कल्याण-कामना के लिए भगवान चक्रपाणि की पूजा में सम्मिलित होने आवें। आगे चलकर मुद्गल महादेवी का संदेश लेकर युवराज को खोजता हुआ कुसुमपुर से अवन्ती और अवन्ती से मूलस्थान की यात्रा करता है। निश्चय ही वह महादेवी का विश्वासपात्र और उनका शुभचिन्तक है। महादेवी की भटार्क आदि के षड्यन्त्र से रक्षा करने के उपायों की

चिन्तना में व्यस्त धातुसेन को मुद्गल ही यह सुझाता है—

"महादेवी तो क्षत्राणी हैं, संभवतः उनकी मुक्ति शस्त्रसे होगी।"

मुद्गल हास्य प्रधान पात्र है। वह अपनी विनोदपूर्ण मुखरता से गम्भीर राजकीय वातावरण को हास्यमय कर देता है। कुमार गुप्त का दर्बार उसकी उक्तियों से अपनी सहज गम्भीरता का परित्याग कर हंसने लगता है। देवसेना अपनी दार्शनिक गम्भीरता को थोड़ी देर के लिए भुलाकर मुद्गल के हास्यपूर्ण कथनों से अपना मनोरंजन करने लगती है। सुकवि मातृगुप्त भी मुद्गल की विनोद पूर्ण प्रकृति का आनन्द लेने के लिए उससे जान बूझ कर छेड़छाड़ करता है। पेटूपन हास्य का सहज आलम्बन है। मुद्गल में इसका आतिशय्य है। नाटक में वह अपनी इसी प्रवृत्ति का परिचय देते हुए प्रवेश करता है—"रक्षा पेट कर लेगा, कोई दे भी तो। अक्षय तूणीर, अक्षय,कवच सब लोगों ने सुना होगा, परन्तु इस अक्षय मंजूषा का हाल मेरे सिवा कोई नहीं जानता, इसके भीतर कुछ रख कर देखो, मैं कैसी शान्ति से बैठा रहता हूँ।" सुस्वादु भोजन के निमन्त्रण का नाम सुनते ही अपनी स्त्री पर मुद्गल का सारा कृत्रिम क्रोध काफूर हो जाता है। देवसेना के यह कहते ही कि 'अच्छा, आज तुम्हारा निमन्त्रण है—तुम्हारी स्त्री के साथ, मुद्गल अपनी स्त्री के प्रति अपनी सारी खीझ, जो देवसेना के उक्त कथन पूर्व उसी के समक्ष व्यक्त कर चुका था, भुला देता है, और निमन्त्रण का नाम सुनते ही चट से कहता है "पुण्यकाल बीत न जाय ......चलिए, मैं उसे बुला लेता हूँ।"

मुद्गल का हास्य अशिष्ट अथवा भोंडा नहीं है। वह ि
प्रकार के समाज में विचरण करता है उसके अनुकूल ही उसकी विन
यार्ता है। उसका हास्य मर्य्यादित और परिस्थिति के अनुकू
होने के कारण सर्वसाधारण के अनुरंजन की वस्तु है। मुद्गल अपन
इस विनोदी प्रकृति के कारण ही नाटक का सर्वप्रिय (Popular
पात्र है।

मुद्गल के स्वभाव में विनोद के अतिरिक्त सहानुभूति का भाव भी पर्य्याप्त रूप में है। मातृगुप्त की अकिञ्चन दशा से प्रभावित होकर वह उसे युवराज भट्टारक के पास रखवा देने का वचन देता है, और उसे पूरा भी करता है। हूणों के हाथों से निरीह नागरिकों को यातना पाते देख कर उसका हृदय सहानुभूति से कातर एवं त्रस्त हो उठता है। वह आगे बढ़ कर उनकी रक्षा के उपाय में मातृगुप्त को समुचित योग देता है। अन्त में वह विजया के विरोधी आचरणों को जानते हुए भी उसकी आश्रय हीनता देख कर सहानुभूति से द्रवित हो जाता है, और विजया के पूछने पर वह उसे स्कन्दगुप्त का पता भी बता देता है। मुद्गल ने औरों से जो सहानुभूति अपने लिए मुक्त हस्त प्राप्त की उसे वह दूसरों को देने में भी स्वयं कभी संकोची नहीं है।

नाटककार ने मुद्गल के द्वारा अन्तिम अङ्क के प्रथम दृश्य में अनेक नाटकीय घटनाओं एवं व्यापारों का परिचय कराया है। उन घटनाओं का प्रदर्शन वस्तु विस्तार एवं व्यापार जटिलता की दृष्टि से नाटककार को अभिप्रेत नहीं है। नाटकीय योजना की दृष्टि से पात्रों

का इस प्रकार का प्रयोग अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता। नाटकीय वस्तु और व्यापार की दृष्टि से मुद्गल का चरित्र चाहे महत्त्वपूर्ण न हो किन्तु उसकी विनोदी प्रकृति निरन्तर स्मरणीय है। नाटककार को इसमें यथेष्ट सफलता मिली है।

जयमाला

मालव नरेश बंधुवर्मा की महिषी जयमाला अपने पति के ही समान शूर और साहसी है। जिस समय मालव दुर्ग आक्रमण-कारियों से घिर जाता है और स्कन्दगुप्त की सहायता आने में विलम्ब होती है, उस समय बंधुवर्मा अत्यंत चिन्तित और व्याकुल भाव से अपनी संकटापन्न परिस्थिति का परिचय देते हुए जयमाला से कहते हैं—'प्रिये ! अभी तक युवराज का कोई संदेश नहीं मिला। सम्भवतः शक और हूणों की सम्मिलित वाहिनी से आज दुर्ग की रक्षा न कर सकूँगा।' जयमाला सामान्य स्त्री की भाँति इससे अधीर और व्याकुल न होकर अत्यन्त साहसपूर्ण शब्दों में कहती है—'नाथ तब क्या मुझे स्कन्दगुप्त का अभिनय करना होगा ? क्या मालवेश को दूसरे की सहायता पर ही राज्य करने का साहस हुआ था ? जाओ! प्रभु ! सेना लेकर सिंह विक्रम से शत्रु-सेना पर टूट पड़ो ! दुर्ग रक्षा का भार मैं लेती हूँ ?" जयमाला के लिए तो युद्ध भी एक गान ही है, और एक वीर क्षत्राणी के समान चिर-संगिनी खड्गलता' से उसका 'चिर स्नेह है'। अन्तःपुर का द्वार

टूटने और 'विजयी शत्रु-सेनापति के प्रवेश' करने पर वह भी तलवार लेकर शत्रुओं से युद्ध करती है।

जयमाला वीर है पर उसमें स्त्रियोचित कुछ दुर्बलताएं है। वह अपनी ननद देवसेना की तरह 'सर्वात्मा के स्वर में अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का लय' करने में स्वभाव से ही तत्पर नहीं है। वह मालव का राज्य स्कन्दगुप्त को समर्पित करने वाले बन्धुवर्मा के प्रस्ताव का विरोध करती है—'आर्य्यपुत्र! अपना पैतृक राज्य इस प्रकार दूसरों के पदतल में निस्संकोच अर्पित करते हुए हृदय काँपता नहीं है? क्या फिर उन्हीं की सेवा करते हुए दास के समान जीवन व्यतीत करना होगा।" स्वार्थपूर्ण ममत्व नारी स्वभाव की सामान्य दुर्बलता है। इसके अपवाद बहुत थोड़े हैं। जयमाला भी इसी भाव की प्रेरणा से समष्टि के लिए व्यष्टि की सम्पूर्ण अवहेलना करने को प्रस्तुत नहीं है। साथ ही यदि वह इतनी ऊँची नहीं है कि वह आत्मसमर्पण के प्रत्येक ताल में अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को 'विस्मृत' कर सके, तो वह इतनी दुराग्रही और नीच भी नहीं है कि वह अपने पति तथा अन्य आत्मीयजनों की उपेक्षा करे अथवा अनन्तदेवी की भाँति उन्हीं के विरुद्ध षड्यन्त्र रचकर उनका नाश करने को सोचे। जयमाला पति के अटल निश्चय के सामने सिर झुकाकर क्षमा माँगती है और उसे स्वीकार करती है। उसकी यह स्वीकृति कृत्रिम या दबाव से नहीं वरन् हृदय की सच्ची प्रेरणा से है। स्कन्दगुप्त को मालव का

सिंहासन समर्पित करती हुई वह कहती है—'देव ! यह सिंहासन आपका है, मालवेश का इस पर कोई अधिकार नहीं।'

नाटकों में सभी पात्रों को आदर्श के साँचों में ढालना अस्वाभाविक प्रतीत होता है। जब कोई अपनी दुर्बलताओं का दमन कर ऊपर उठता है तभी उसके चरित्र का गौरव प्रस्फुटित होता है। जयमाला के चरित्र का यह महान गौरव है कि वह अपनी स्वभावज दुर्बलता को दबाकर अपने पति की अनुगामिनी होती है। उसकी पतिभक्ति का चरम रूप तो हमें उसके पति के साथ सती हो जाने में दिखाई पड़ता है। उसने यथार्थ ही भारतीय क्षत्रिय नारी जीवन की गौरव-पूर्ण झाँकी अपने आचरणों एवं चरित्र द्वारा प्रस्तुत की है।

अनन्तदेवी

अनन्त देवी सम्राट कुमारगुप्त की द्वितीया युवती महिषी है। उसमें स्वभाव ही से महत्वाकांक्षा है। वह ज्येष्ठ किन्तु सपत्नी पुत्र स्कन्दगुप्त के स्थान पर लोक मर्य्यादा एवं राजनियम के विरुद्ध अपने कनिष्ठ पुत्र पुरगुप्त को राजसिंहासन पर बैठाना चाहती है ! वह अबला होकर अपनी नियति का पथ अपने पैरों चलने का साहस रखती है। महत्वाकांक्षा का दुर्गम स्वर्ग वह अपने साहस और प्रयासबल से प्राप्त करना चाहती है। वह जानती है कि महत्वा-काँक्षा की प्राप्ति के लिए असीम साहस और शक्ति होनी चाहिए। अनन्तदेवी कहती है—'जो चूहे के शब्द से शंकित होते हैं, जो अपनी

साँस से ही चौंक उठते हैं, उनके लिए उन्नति का कंटकित मार्ग नहीं है।' अतः अनन्तदेवी में अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए साहस, कठोरता, कौशल एवं कुटिलता सभी कूट कूट कर भरी हुई है। वह 'विषय-विह्वल वृद्ध सम्राट को' विलासमय जीवन की जटिल गुत्थियों को सुलझाने में व्यस्त कर अपने लिए कार्य्यक्षेत्र एवं अनुकूल वातावरण बना लेती है। अनन्तदेवी भटार्क को महाबलाधिकृत बनवाकर उसे चिरकाल के लिए कृतज्ञता के पाश में बाँध लेती है। भटार्क उसके कार्य साधन का उपयुक्त अस्त्र बन जाता है। क्रूराकृति एवं क्रूरकर्म्मा प्रपंचबुद्धि को भी वह अपनी ओर मिलाती है। भटार्क एवं प्रपंचबुद्धि के सहयोग से अनन्तदेवी मगध में 'पारसीक मदिरा की धारा की जगह 'रक्त की धारा' बहाती है। वह गुप्त साम्राज्य में 'खंड-प्रलय' प्रस्तुत कर देती है। कुमारगुप्त की कौशलपूर्ण एवं रहस्यमय मृत्यु में अनन्तदेवी का हाथ है। महादेवी देवकी की हत्या के आयोजन में उसका प्रत्यक्ष प्रोत्साहन एवं सक्रिय चेष्टा है। उसने साम्राज्य एवं आर्य्य जाति की सुरक्षा एवं शान्ति की भी परवाह न कर हूणों से उत्कोच लेकर उनके साथ षड्यन्त्र किया। नगरहार के युद्ध में स्कन्दगुप्त की पराजय अनन्तदेवी की कुमंत्रणा कुपरिणाम है।

अनन्तदेवी लक्ष्य भ्रष्ट एवं मर्य्यादा विहीन होने के कारण अपने उद्देश्यों में पूर्णतया सफल नहीं होती। वह कुसुमपुर एवं मगध का सिंहासन प्राप्त तो अवश्य करती है किन्तु उसकी यह

सफलता क्षणिक एवं सारहीन है। उसकी विफलता का कारण उसके पुत्र पुरगुप्त का निकम्मापन और उसके विश्वस्त सहयोगी भटार्क की विचार अस्थिरता है। पुरगुप्त के निकम्मेपन और निर्वीर्यता के लिए अनन्तदेवी एक बार उससे खीझ कर उसकी कठोर भर्त्सना करती है—"निर्वीर्य, निरीह बालक तुम्हें भी इसकी प्रसन्नता ? लज्जा के गर्त में डूब ही जाते।" भटार्क अनन्तदेवी के प्रभाव से पुरगुप्त को सिंहासन पर बैठाने के लिए प्रतिश्रुत होकर भी स्कन्द के उपकारों के दुर्वह बोझ से डावाँडोल होता रहता है। पुरगुप्त की दुर्बलता और भटार्क की अस्थिरता के कारण अनन्तदेवी की सफलता का अस्थायी होना परम स्वाभाविक है।

अनन्तदेवी में अवसर के अनुकूल नरम गरम बातचीत कर दूसरों पर अपना प्रभाव डालने की अद्भुत क्षमता है। भटार्क के समक्ष वह 'शत्रुपुरी में असहाय और अबला' बनकर उसकी सहायता प्राप्त करती है। देवकी के समक्ष वह सिंहनी के समान गरजकर उसे भयभीत करने का प्रयास करती है। वह देवकी से कहती है—'परन्तु व्यंग्य की ज्वाला रक्त से भी नहीं बुझती देवकी ! तुम मरने के लिए प्रस्तुत हो जाओ।' वही अनन्तदेवी जब स्कन्द के समक्ष वन्दिनी होकर विचारार्थ आती है तब वह अत्यन्त विनम्र होकर पारिवारिक सम्बन्धों की दुहाई देती है और स्कन्द की सहानुभूति प्राप्त करती है। महादेवी देवकी की हत्या में विफल होने पर वह स्कन्दगुप्त से 'तुम्हारे पिता की पत्नी हूँ' कहकर अपना

बचाव करती है। विजया प्रणय-वञ्चना से पीड़ित हो अनन्तदेवी की भर्त्सना करने का दुःसाहस करती है। वह 'साम्राज्य का स्वप्न' गला दबाकर भंग कर देने की धमकी देती है। किन्तु अनन्तदेवी के उग्र प्रतिवाद के समक्ष उसे भी मुँह की खानी पड़ती है। निस्सन्देह अनन्तदेवी अपने समय की बड़ी कुटिल, भयानक और विलक्षण बुद्धि सम्पन्न नारी रही होगी।' भटार्क ने उसके सम्बन्ध में जो यह कहा—'दुर्भेद्य नारी हृदय में विश्व-प्रहेलिका का रहस्य बीज है' वह निस्सार नहीं है।

अनन्तदेवी जिस प्रकार कुटिल एवं महत्वाकाँक्षापूर्ण है उसी प्रकार वह विषय-लोलुप एवं विलासिनी भी है। वह प्रथम परिचय में ही भटार्क को अपने प्रेमपाश में बाँधना चाहती है। इस बात का अनुभव करके ही भटार्क कहता है—'इसकी आँखों में काम पिपासा के संकेत अभी उबल रहे हैं। अतृप्ति की प्रवंचना कपोलों पर रक्त होकर क्रीड़ा कर रही है। हृदय में श्वासों की गरमी विलास का संदेश वहन कर रही है।" अनन्तदेवी अपने पुत्र पुरगुप्त के समक्ष भी निर्लज्जता पूर्वक मदिरापान एवं भटार्क के साथ कामुक चेष्टाएं करती है। राजमहिषी होकर इस प्रकार की चारित्रिक भ्रष्टता में अपने को मग्न कर देना अनन्तदेवी की महान दुर्बलता है।

अनन्तदेवी का चरित्र आदर्श से बहुत गिरा हुआ है। वह स्वार्थ से प्रेरित हो पति की हत्या, पुत्र से विरोध, सपत्नी की वध चेष्टा और साम्राज्य के विरुद्ध विदेशियों को सहायता प्रदान करती है।

उसके नीच कर्मों का फल भी उसे कार्यों के अनुकूल ही मिलता है। 'मगध में महादेवी और परम भट्टारक का अभिनय' होता है किन्तु वह निस्सार और क्षणिक है। यथार्थ ही उसने अपने 'कुत्सित कर्मों की राख से कुमारगुप्त के अग्नि तेज को ढँक दिया।' 'प्रसाद' ने उसका अन्त नाटक के अन्तर्गत नहीं प्रकट किया क्योंकि वह इतिहास विरुद्ध होता, अन्यथा आदर्श रक्षा हेतु ऐसे पात्रों का अन्त समीचीन है।

देवसेना

मालव कुमारी देवसेना का पावन चरित्र 'प्रसाद' जी की अमर कल्पना है। उसके चरित्र में नारी जीवन की आदर्श सहिष्णुता, त्याग, उदारता, समरसता, भावुकता, गंभीरता आदि इस भाँति प्रतिष्ठित है कि वह काल्पनिक होते हुए भी वास्तविक प्रतीत होता है। वह 'भाव विभोर दूर की रागिनी सुनती हुई कुरंगी सी कुमारी' जीवन के संघर्ष में अपनी सहज उदारता, साहस एवं सहानुभूति से अपने युग पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप डाल देती है।

देवसेना के चरित्र में उसकी संगीत-प्रियता और पावन प्रेम-व्यंजना—ये दो विशिष्ट गुण हैं। उसकी संगीत प्रियता जन्म-जात है। वह जीवन की विषम घड़ियों को संगीत की लहरी पर तैराकर बहा देती है। मालव दुर्ग पर हूणों एवं शकों की सम्मिलित वाहिनी के आक्रमण काल में अपनी भाभी से देवसेना कहती है—'एक बार

गा लूँ हमारा प्रियगान, फिर गाने को मिले या नहीं।' देवसेना का कोई कार्य्य बिना गान के नहीं होता। उसमें संगीत प्रियता का आतिशय्य देखकर भीमवर्मा कह बैठता है—'देवसेना तुझे गाने का भी विचित्र रोग है।' औरों के लिए, अर्थात् विजया और भीमवर्मा सदृश स्थूल एवं वाह्यदृष्टि से संगीत देखने वालों के लिए, गाना चाहे एक रोग हो, किन्तु देवसेना संगीत को ब्रह्म की सत्ता के समान अणु परिमाणु में, उद्भिज एवं अंडज में, सर्वत्र ही परिव्याप्त देखती है। वह विजया से कहती है—'प्रत्येक परिमाणु के मिलन में एक सम है, प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलने में एक लय है। .... पक्षियों को देखो, उनकी 'चहचह' 'कलकल' 'छलछल' में, काकली में रागिनी है।' यहाँ पर देवसेना सामान्य अनुभूति के स्तर से बहुत ऊँचे उठकर रहस्यात्मक अनुभूति के क्षेत्र में पहुँच जाती है इसीलिए उसकी भावाभिव्यक्ति संकेतपूर्ण एवं गंभीरतम हो जाती है। पारिजात वृक्ष का परिचय देने में देवसेना, विजया के समक्ष, अपना ही जीवन अप्रस्तुत रूपसे व्यक्त करती है। यहाँ पर उसका चरित्र मानव पहुँच के बाहर बहुत ऊँचा उठा प्रतीत होता है। देवसेना संगीत की प्रभविष्णुता और उसका मनोहर स्वरूप विश्व प्रकृति में जिस प्रकार सर्वत्र देखती है वैसे ही मानव प्रकृति में भी उसका मंगलमय रूप उसके सामने है। वह जयमाला से कहती है। 'सर्वात्मा के स्वर में, आत्म-समर्पण के प्रत्येक ताल में, अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का विस्मृत हो जाना एक मनोहर संगीत है।'

देवसेना का संगीत प्रेम करुण भावावेष्टित है। जयमाला कहती है 'जब तू गाती है तब तेरे भीतर की रागनी रोती है।' देवसेना स्वयं अपनी सखी से कहती है—'जब हृदय में रुदन का स्वर उठता है, तभी संगीत की वीणा मिला लेती हूँ।' जिस प्रणय उपासना के लिए वह वागीश्वरी की तान का अभ्यास कर चुकी थी उसके दुष्प्राप्य हो जाने पर उसके संगीत का स्वर वेदनायुक्त हो जाता है। प्रियतम के अभाव में भी संगीत के प्रति उसका आकर्षण अक्षुण्ण रहता है। देवसेना की एक स्वगतोक्ति से यही भाव व्यंजित होता है—'मेरे प्रिय गान! अब क्यों गाऊँ और क्यों सुनाऊँ? इस बार बार के गाए हुए गीतों में क्या आकर्षण है—क्या बल है जो खींचता है? केवल सुनने की ही नहीं, प्रत्युत जिसके साथ अनन्तकाल तक कंठ मिला रखने की इच्छा जग जाती है।'

देवसेना के जीवन में उसकी प्रणय-कहानी बड़ी मर्मस्पर्शी है। वह अपने जीवन के वसंत काल में जिस स्कंद की मन्मथ मूर्ति मानस में प्रतिष्ठित करती है वही उसके दुर्भाग्य से विजया की ओर भ्रमवश आकर्षित हो जाता है। देवसेना मालव की राजसभा में विजया के प्रति कहे गए स्कन्दगुप्त के इस कथन का—'विजया, यह तुमने क्या किया' मर्म पूर्णतया अवगत कर लेती है। वह सामान्य नारी की भाँति द्वेष और ईर्षा से प्रेरित नहीं होती। वह अपने हृदय के आराध्य की मनोकामना के मार्ग में रोड़ा बनकर नहीं आती। देवसेना असाधारण गम्भीरता और सहिष्णुता से अपने नारी हृदय

की सहज दुर्बलताओं को अपने पैरों के नीचे दबाकर मानव जीवन के अति उच्च स्तर पर स्थित होती है। यही तो उसके चरित्र की महानता है। वह अपने हृदय की सहज दुर्बलताओं को अपनी सखी के समक्ष व्यक्त कर प्रेम के नाम पर केवल एक बार ही रोती है। देवसेना अपनी सखी से कहती—"मेरा हृदय मुझसे अनुरोध करता है, मचलता है, रूठता है, मैं उसे मनाती हूँ। आँखें प्रणय कलह उत्पन्न करती हैं, चित्त उत्तेजित करता है, बुद्धि झिड़कती है, कान कुछ सुनते ही नहीं। मैं सबको समझाती हूँ, विवाद मिटाती हूँ। सखी! फिर भी मैं इसी झगड़ालू कुटुम्ब में गृहस्थी सम्हाल कर स्वस्थ होकर बैठती हूँ।" देवसेना के हृदय में प्रणय की प्रबलता का अनुभव उसी के शब्दों से हम कर सकते हैं—"कूलों में उफन कर बहने वाली नदी, तुमुल तरङ्ग, प्रचण्ड पवन और भयानक वर्षा।" नारी हृदय की प्रणय सम्बन्धी सामान्य अनुभूतियों के इस कथन में ही हम उसका मानवीय रूप पहिचान कर उसे ग्रहण कर सकते हैं अन्यथा वह अलौकिक गुणशील समन्वित होने से सर्वसाधारण की प्रतीति के परे हो जाती।

√देवसेना अपने प्रणय भाव में गंभीर होते हुए भी जीवन से उदासीन अथवा तटस्थ भी नहीं होती। वह अपनी प्रणय-प्रतिद्वन्द्विनी विजया के प्रति कोई दुर्विचार अथवा दुर्व्यवहार नहीं करती। विजया के मार्ग को स्वच्छ करने के सिवा रोड़े नहीं बिछाती। देवसेना के भाई बन्धुवर्म्मा ने स्कन्दगुप्त को मालव का राज्य

समर्पित किया । देवसेना अपनी दूरदर्शिता से यह अनुभव कर लेती है 'लोग कहेंगे कि मालव देकर देवसेना का ब्याह किया जा रहा है ।' विजया को देवसेना के प्रति यही भ्रम होता भी है कि 'उपकारों की ओट से उसके स्वर्ग को छिपा दिया गया ।' देवसेना, विजया के इस भ्रम को निर्मूल करने की प्राणपण से चेष्टा करती है । वह प्रपंचबुद्धि से कहती है—'परन्तु कापालिक ! एक और भी आशा मेरे हृदय में है । वह पूर्ण नहीं हुई है । मैं डरती नहीं हूँ, केवल उसके पूर्ण होने की प्रतीक्षा है । विजया के स्थान को मैं कदापि न ग्रहण करूँगी । उसे भ्रम है, यदि वह छूट जाता········ ।"

स्कन्द के प्रति देवसेना का प्रेम वासनायुक्त नहीं है । अवसर एवं अधिकार प्राप्त करके भी वह विषय वासनायुक्त प्रेम के स्थूल स्वरूप को अस्वीकार कर देती है । इसी में उसके दिव्य प्रेम भाव की अलौकिकता है । स्कन्दगुप्त स्वयं देवसेना को अपना ममत्व अर्पित कर उसके साथ एकान्तवास की कामना करता है । सामान्य नारी के लिए तो उसके प्रेमी द्वारा किया हुआ ऐसा प्रस्ताव परम सुखद है । देवसेना का प्रेम सामान्य कोटि का नहीं है । वह अपने प्रियतम के प्रणय-प्रस्ताव से मुग्ध हो प्रेम के सच्चे आदर्श को नहीं भूलती । देवसेना, स्कन्द के पुनः पुनः अनुरोध करने पर उसके सामने अपने प्रेम का यथार्थ स्वरूप खोलकर रख देती है—"आह ! कहना ही पड़ा स्कन्दगुप्त को छोड़कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायगा । अभिमानी भक्त के समान निष्काम

होकर मुझे उसी की उपासना करने दीजिए, उसे कामना के भँवर में फँसाकर कलुषित न कीजिए। नाथ! मैं आपकी ही हूँ, मैंने अपने को दे दिया है, अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती।" आदर्श सात्विक प्रेम में सम्पूर्ण आत्मसमर्पण एवं कामना हीन अनन्य अनुराग, यही दो प्रमुख विशेषताएँ हैं। इस दृष्टि से देवसेना का प्रेम आदर्श एवं अलौकिक है।

देवसेना के चरित्र में सामान्य नारी जीवन की अन्य विशेषताएँ भी हैं। साहस, कर्त्तव्यपालन, देशसेवा आदि विविध सात्विक भावों से वह अलंकृत है। नाटक के प्रथम अंक में ही देश के मान और स्त्रियों की प्रतिष्ठा के लिए हम उसे विदेशियों के आक्रमण काल में अन्तःपुर की रक्षा करते हुए देखते हैं। वह एक वीर क्षत्राणी बाला के अनुरूप शस्त्रचालन द्वारा अपने असीम साहस का परिचय देती हैं। स्कन्दगुप्त के अज्ञात हो जाने के पश्चात् जब देश में घोर अराजकता विशृंखलता एवं पराजयपूर्ण भावना फैल जाती है तब देवसेना अपनी देशभक्ति पूर्ण ओजस्विनी संगीत लहरी से मृतकों में भी उत्साहपूर्ण जीवन संचार करती है। वह साम्राज्य के बिखरे हुए रत्नों को एकत्र कर उनके लिए भीख माँगती है और उनका भरण पोषण करती है। मालव राजकुमारी देवसेना आपत्तिकाल में भिक्षा वृत्ति का अवलम्बन कर अपनी सहिष्णुता का त्याग नहीं करती। भिक्षा माँगते समय जनसमूह के अन्दर कुछ असभ्य मनुष्य उसके प्रति वासनायुक्त कलुषित कटाक्ष

करते हैं। पर्णदत्त उत्तेजित हो जाता है। परन्तु देवसेना अपनी शीतल वाणी से उसे शान्त करती है—"क्या है बाबा! क्यों चिढ़ रहे हो? जाने दो, जिसने नहीं दिया उसने अपना कुछ तुम्हारा तो नहीं ले लिया।" देवसेना का चरित्र, आदर्श एवं अलौकिक होते हुए भी व्यावहारिक जीवन में प्रतिष्ठित होने के कारण, परम लोकोपयोगी एवं मंगलमय है।

विजया

श्रेष्ठि-कन्या विजया हमें सर्वप्रथम अवन्ती दुर्ग में राजपरिवार के साथ विदेशियों के आक्रमण से अपने धन और जीवन की रक्षार्थ सशंकित और भयभीत सी दिखाई देती है। वह धन-कुबेर की पुत्री है अतः उसमें क्षत्राणियों के समान साहस और त्याग का सम्पूर्ण अभाव ही लक्षित होता है। वह कल्पना भी नहीं कर सकती कि स्त्रियाँ दुर्ग रक्षा का भार अपने ऊपर ले सकती हैं। वह भीमवर्मा से कहती है—'दुर्ग रक्षा का भार किसी सुयोग्य सेनापति पर होना चाहिए।' विजया देवसेना के कहने पर भी आत्मरक्षार्थ छुरी तक अपने पास नहीं रखना चाहती है और जयमाला एवं देवसेना के वीरोचित साहस को देखकर 'उन्हें आग की चिनगारियाँ' कहती है।

लोभ और भय के अतिरिक्त विलास भावना, मिथ्याभिमान, ईर्षा और संदेह ऐश्वर्यवानों की सहज मानसिक प्रवृत्तियाँ हैं।

विजया मानों इनका पूँजीभूत रूप है। लोभ तो उसमें इतना है कि वह देश रक्षा के लिए अपनी अपार धनराशि का एक क्षुद्र अंश भी नहीं दे सकती और अपनी दुर्बलता को छिपाने के लिए वह जयमाला से वीरत्व की मिथ्या दुहाई देती है—"किंतु इस प्रकार अर्थ देकर विजय खरीदना तो देश की वीरता के प्रतिकूल है।"

विजया के चरित्र की सबसे महान दुर्बलता उसकी उत्कट विलास कामना है। वह रूप और महत्व की प्राप्ति के लिए इतस्ततः मारी मारी फिरती है और अन्त में इसी मृगतृष्णा में वह अपने प्राण भी गवाँ बैठती है। विजया सर्वप्रथम स्कन्दगुप्त के स्वस्थ शरीर, सुन्दर रूप एवं उच्च स्थिति से प्रभावित हो उसके प्रति आकृष्ट होती है। विजया के मन में स्कन्द के प्रति प्रणय वीरुध ज्योंही अंकुरित होता है कि वह स्कन्द की वैराग्य युक्त वार्तालाप को सुनकर अपने संदेह की आंधी से उसे उखाड़ फेंकती है। "युवराज तो उदासीन हैं········दुर्बलता इन्हें राज्य से हटा रही है।' विजया की प्रेम भावना में केवल रूप एवं ऐश्वर्य मोह है। अतः उसमें अस्थिरता और अविवेक का प्राधान्य है। वह स्कन्द के पश्चात् चक्रपालित के 'प्रशस्त वक्ष और उदार मुख-मंडल' को देखकर एवं उसकी स्कन्द से वीर दर्प युक्त वार्तालाप सुनकर उसे ही अपने अनुरूप ठहराती है। चक्रपालित सम्भवतः उसकी पहुँच के सर्वथा बाहर है अथवा कुछ काल बाद ही भटार्क को प्राप्त कर लेने के कारण उसे उस ओर प्रयास करने का अवसर ही नहीं मिला इसीलिए चक्रपालित का वह

फिर ध्यान नहीं करती। भटार्क के व्यक्तित्व में उसे स्वेच्छित वस्तु प्राप्त होती है। भटार्क रूपवान और वलिष्ट तो है ही साथ ही वह मगध का महाबलाधिकृत और विजया की भाँति महत्वाकांक्षी है। विजया इतनी मोहान्ध और विवेकशून्या है कि एकवार के साक्षात् में ही वह भटार्क को अपना पति वरण कर लेती है। वह उसके साथ वन्दिनी होकर मालव राजसभा में सबके समक्ष अपना निश्चय खुल्लमखुल्ला प्रकट कर देती है। विजया के जीवन में यह उसकी महान् भूल है। विजया जिस प्रकार प्रथम साक्षात्कार में स्कंद के व्यक्तित्व से प्रभावित हुई थी उसी प्रकार स्कंद के हृदय पर भी विजया के रूप और सौन्दर्य की छाप लग गई थी। स्कंद के सामने ही भटार्क को वरण कर विजया ने स्कंद के हृदय पर जो ठेस पहुँचाई वह उसकें इन शब्दों से पूर्णतया व्यक्त है—"यह क्या किया तुमने विजया !" स्कंदगुप्त की गम्भीर प्रकृति का अवगाहन विजया की शक्ति के परे है। विजया पतन की ओर क्रमशः वढ़ती ही जाती है। मिथ्याभिमान और संदेह उसके हृदय में घेरा डाल लेते हैं और उन्हीं की प्रेरणा से वह अनेक कुत्सित कर्मों की ओर अग्रसर होती है। वह स्कंद की प्राप्ति के मार्ग में देवसेना को रोड़ा समझती है। संदेह ईर्षा में परिणित हो जाता है। विजया देवसेना से प्रतिशोध लेने के लिए प्रपंचवुद्धि और भटार्क के साथ उसकी हत्या का षड़यन्त्र रचती है। वह देवसेना को छल पूर्ण ढंग से श्मशान तक अपने साथ लाती है और प्रपंचवुद्धि के हाथ वलि देने के लिए सौंपकर अन्तर्ध्यान हो जाती है।

स्कंदगुप्त की चेष्टा से विजया के प्राण तो बच जाते हैं किन्तु उसके हृदय में विजया के लिए कोई स्थान नहीं रहता। स्कन्द उसे पहिले 'सुख शर्वरी की संध्यातारा' के समान समझता था वही अब उसे उल्कापिंड प्रतीत होने लगती है! विजया अपने हाथों अपने पैर में कुल्हाड़ी मारती है। यह उसकी दूसरी महान् भूल है।

भटार्क को अपनाकर विजया कुछ समय तक कृत्रिम सुखों के द्वारा अपने मनोरंजन का विधान करती रहती है। भटार्क को पूर्ण आत्मसमर्पण कर वह विडम्बना पूर्ण विलासमय जीवन व्यतीत करने लगती है। भटार्क अनन्तदेवी के इशारों पर चलता था। वह पुरगुप्त को सम्राट बनाने के लिए प्रतिश्रुत था। अतः विजया भी अनन्तदेवी की चाटुकारिता एवं पुरगुप्त की विलास साधना में तत्पर होती है। कृत्रिम जीवन स्थायित्व हीन होता है। स्वल्पकाल में ही वास्तविकता का अनुभव हो जाने पर उस जीवन के प्रति क्षोभयुक्त विराग की जागृति स्वाभाविक है। विजया को शीघ्र ही वास्तविकता का पता चल जाता है और तब तो वह जिस वेग से उस कृत्रिम जीवन के प्रति उन्मुख हुई थी उससे दूने प्रवाह से वह पश्चात्पद होती है। उसे पुरगुप्त के विलास-जर्जर शरीर एवं दुर्बल मन से घृणा हो जाती है। वह पुरगुप्त की विलासिता का क्षुद्र उपकरण बनकर नहीं रहना चाहती। उसकी प्रतिहिंसा जागृत होती है और अब की बार वह अनन्तदेवी से उलझ पड़ती है। 'हृदय को छीन लेने वाले के प्रति हृतसर्वस्वा रमणी पहाड़ी नदियों से भयानक, ज्वालामुखी के स्फोट से बीभत्स और

प्रलय की अनल शिखा से लहरदार होती है।' विजया अनन्तदेवी को उसके प्रणय की उकैती के कारण भर्त्सनापूर्ण खुली चुनौती देती है "जो झूला ऊपर उठ रहा है, उसे एक ही झटके में पृथ्वी चूमने के लिए विवश कर सकती हूँ। साम्राज्य का स्वप्न गला दबा कर भंग कर दिया जायगा। तुम्हारा समस्त कुमन्त्रणाओं को एक फूंक में उड़ा दूंगी।" विजया की इन उक्तियों में उसके हृदय का थोथा क्षोभ ही है। वह अनन्तदेवी का किसी प्रकार का अनिष्ट करने में सर्वथा असमर्थ है। अतः अनन्तदेवी उसे फटकार कर दूर हटा देती है और विजया को यहाँ भी मुंह की खानी पड़ती है।

प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। वासना की आँधी में एक लम्बे अर्से तक सरपट दौड़ने के पश्चात् ठोकर लगने पर विजया रुकती है और अपने विगतजीवन का सिंहावलोकन करती है। वह अनुभव करती है 'मैं कहीं की न रही। इधर अचानक पिशाचों की लीला भूमि और उधर गम्भीर समुद्र।' वह अपने अन्तःकरण को टटोलने पर पाती है कि 'जिन्हें स्नेह के पुरस्कार की वाँछा है उनकी भूल पर कठोर तिरस्कार, और जो पराए हैं उनके साथ दौड़ती हुई सहानुभूति ....'स्नेहमयी देवसेना का शंका से तिरस्कार किया, मिलते हुए स्वर्ग को घमण्ड से तुच्छ समझा, देवतुल्य स्कन्दगुप्त से विद्रोह किया।' विजया अपने हृदयमन्थन द्वारा इस तथ्यपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचती है—'स्वार्थपूर्ण मनुष्यों की प्रतारणा में पड़ कर खो दिया—इस लोक का सुख (और) उस लोक की शान्ति।' विजया के

जीवन में यथार्थ विवेक का उदय सिर्फ इसी अवसर पर होता है। यह विवेकोच्छ्वास परिस्थितिजन्य है। संस्कारों की प्रबलता के कारण वह टिकाऊ नहीं होता। शर्वनाग के प्रभाव से विजया देश में कल्याण के शुभागमन के लिए कटिबद्ध होकर चलती है और मातृगुप्त को 'गली गली कोने कोने पर्यटन' करके भारतवासियों को जगाने के लिए प्रोत्साहित करती है।

विजया में संस्कारों की प्रबलता है। उसके संस्कार उसे स्वार्थ-परता, विलास एवं वैभवयुक्त जीवन की ओर निरंतर प्रेरित करने वाले हैं। संस्कारजन्य इन हीन भावनाओं के प्रवाह में उसका विवेक टिक नहीं पाता है। वह फिर सौदागरी मनोवृत्ति से अपनी अतुल धनराशि द्वारा स्कन्दगुप्त को अपने लिए क्रय करना चाहती है। देवसेना सम्बन्धी उसकी भ्रान्ति अभी उसमें अवशिष्ट है। वह सोचती है— 'देवसेना ने एक बार मूल्य देकर खरीदा था, परन्तु विजया भी एक बार वही करेगी।' विजया के हृदय में देशसेवा गौण होकर कामना पूर्ति की लालसा प्रधान हो जाती है।

विजया वासनायुक्त विचारों के भँवर में चक्कर काटती हुई स्कन्द गुप्त के पास फिर पहुँचने का साहस करती है। स्कन्दगुप्त के समक्ष वह 'भरा हुआ यौवन और प्रेमी हृदय विलास के उपकरणों के साथ प्रस्तुत' कर अपने छिपे हुए दो रत्नगृहों से उसे मोल लेने का प्रपञ्च रचती है जिससे कि स्कंद उसके साथ 'बचे हुए जीवन का आनन्द' ले। विजया में मनुष्य की पहिचान कर उसके साथ व्यवहार करने की

ज़रा भी शक्ति नहीं है। वह अपने रंगीन चश्मे के अन्दर से ही शेष सृष्टि को देखती है। तभी उसे पग पग पर ठोकरें खानी पड़ती हैं। वह जिस प्रकार देवसेना, भटार्क अनन्तदेवी आदि को समझने में भूल करती है उसी प्रकार वह स्कन्द को भी कभी नहीं पहिचान पाती। स्कंद सदृश त्यागी, देशसेवाव्रती एवं गम्भीर स्वभाववाले व्यक्ति के लिए विजया के प्रलोभनों में पड़ना असम्भव है। वही होता भी है। स्कन्द उसे फटकार देता है—'विजया! पिशाची! हट जा; नहीं जानती? मैंने आजीवन कौमार-व्रत की प्रतिज्ञा की है।' स्कन्दगुप्त के इस उत्तर से विजया की स्थिति निराशामय हो जाती है। अभी वह नैराश्य के अन्धकार से बाहर होने भी नहीं पाती कि भटार्क की भर्त्सनाएँ उसे विश्व के अनन्त अन्धकार—मृत्यु की गोद—में मुँह छिपा लेने के लिए विवश कर देती हैं और वह छुरी मार कर आत्महत्या कर लेती है। अतृप्तविलास-वासनामय जीवन दुःख पूर्ण होता है और उसका अन्त जीवन की निश्चित अवधि के पूर्व हो जाना अस्वाभाविक नहीं है।

रामा

रामा 'स्कन्दगुप्त' नाटक की गौण स्त्री-पात्र है। आधिकारिक कथानक के प्रमुख पात्रों से उसका सम्बन्ध अधिक नहीं है। किन्तु नाटककार ने उसके चरित्र में भारतीय नारी जीवन की प्रेरक शक्ति एवं पवित्र कृतज्ञ भाव की जो प्रतिष्ठा की है, उससे वह चमत्कृत हो उठा है, और रामा के साधारण व्यक्तित्व में विशिष्टता लक्षित होती है।

रामा में पति को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने के लि उत्कट अभिलाषा और तदनुरूप प्रयास है। वह अपने पति पर अधिकार पूर्ण प्रभाव भी रखती है तथा वह उसके आचरणों की कटु आलोचना भी करती है। उसका पति शर्वनाग भी उसके प्रभाव को स्वीकार करता है। वह रामा से कहता है— 'मैं क्रोध से गरजते हुए सिंह की पूँछ उखाड़ सकता हूँ। किन्तु सिंहवाहिनी! तुम्हें देखकर मेरे देवता कूच कर जाते हैं।" रामा यद्यपि प्रकट में उसे कीड़े से भी अपदार्थ बताती है किन्तु उसके अन्तःकरण में पति के प्रति वास्तविक अनुराग की कमी नहीं है। वह सात्विक अनुराग से प्रेरित हो पति को जीवन में प्रगति देने के लिए उसके प्रति भर्त्सना पूर्ण शब्दों का व्यवहार करती है। शर्वनाग के प्रति उसका सच्चा सहानुभूति पूर्ण हृदय मालव की न्याय सभा में स्पष्टतया दिखाई पड़ता है। स्कन्द जब गम्भीर मुद्रा से शर्वनाग से कहता है— "ठहरो शर्व मैं तुम्हें आजीवन वन्दी बनाऊँगा" तब रामा उसका यथार्थ भाव न समझ कर तथा पति के अमंगल की कल्पना से प्रताड़ित होकर "आश्चर्य और दुःख से देखती है।"

रामा अपने पति को सन्मार्ग पर लाने के लिए कठोरता और कोमलता दोनों का अवलम्बन लेती है। यह जानकर कि उसका पति देवकी की हत्या के लिए प्रतिश्रुत है वह पहिले तो उसकी कठोरतम भर्त्सना करती है—"......लोभ के वश मनुष्य से पशु होगया है। अर्थ-पिशाच! क्रूर-कर्मा मनुष्य! कृतघ्नता की कीच का कीड़ा,

नरक की दुर्गन्ध !........ ।" इस कठोर भर्त्सना के बाद भी ऊष वह उसे अपने संकल्पों पर दृढ़ देखती है तब वह अत्यन्त कोमलता और विनम्रता से उसके पैर पकड़कर प्रार्थना करती है और उसके विवेक को जागृत करने की चेष्टा करती है—"तुम्हारा यह झूठा सत्य है। ऐसी प्रतिज्ञाओं का पालन सत्य नहीं कहा जा सकता; ऐसे धोखे के सत्य लेकर ही संसार में पाप और असत्य बढ़ते हैं। स्वामी ! मान जाओ !" वह अपने स्वामी को मनुष्य रूप में लाने के लिए अपना जीवन तक संकट में डाल देती है और उसी सती के पुण्य से उसका पति मृत्यु से ही केवल नहीं बचता वरन् वह मनुष्यत्व को प्राप्त हो जाता है।

रामा की स्वामिभक्ति पतिभक्ति से भी अधिक उत्कट और त्यागपूर्ण है। कृतज्ञता हृदय की सात्विक अनुभूति है। इसके समक्ष समस्त व्यक्तिगत स्वार्थ तुच्छ हो जाते हैं। जिसके प्रति यह अनुभूति होती है उसका मंगल आत्ममंगल से भी अधिक अभीप्सित होता है। उसकी रक्षा के लिए कृतज्ञ अपने प्रगाढ़ स्नेही एवं पूज्य की भी उपेक्षा कर देता है।

रामा के हृदय में अपनी स्वामिनी देवकी के प्रति कृतज्ञता की सात्विक अनुभूति है। वह शर्वनाग से कहती है—"मेरे रक्त के प्रत्येक परिमाणु में जिसकी कृपा की शक्ति है, जिसके स्नेह का आकर्षण है, उसके प्रतिकूल आचरण ! वह मेरा पति क्या, स्वयं ईश्वर भी हो, नहीं करने पावेगा।" रामा की अनुभूति इतनी तीव्र

रामा में पति को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने के लिए उत्कट अभिलाषा और तदनुरूप प्रयास है। वह अपने पति पर अधिकार पूर्ण प्रभाव भी रखती है तथा वह उसके आचरणों की कटु आलोचना भी करती है। उसका पति शर्वनाग भी उसके प्रभाव को स्वीकार करता है। वह रामा से कहता है— 'मैं क्रोध से गरजते हुए सिंह की पूँछ उखाड़ सकता हूँ। किन्तु सिंहवाहिनी! तुम्हें देखकर मेरे देवता कूच कर जाते हैं।'' रामा यद्यपि प्रकट में उसे कीड़े से भी अपदार्थ बताती है किन्तु उसके अन्तःकरण में पति के प्रति वास्तविक अनुराग की कमी नहीं है। वह सात्विक अनुराग से प्रेरित हो पति को जीवन में प्रगति देने के लिए उसके प्रति भर्त्सना पूर्ण शब्दों का व्यवहार करती है। शर्वनाग के प्रति उसका सच्चा सहानुभूति पूर्ण हृदय मालव की न्याय सभा में स्पष्टतया दिखाई पड़ता है। स्कन्द जब गम्भीर मुद्रा से शर्वनाग से कहता है— "ठहरो शर्व मैं तुम्हें आजीवन बन्दी बनाऊँगा" तब रामा उसका यथार्थ भाव न समझ कर तथा पति के अमंगल की कल्पना से प्रताड़ित होकर "आश्चर्य और दुःख से देखती है।"

रामा अपने पति को सन्मार्ग पर लाने के लिए कठोरता और कोमलता दोनों का अवलम्बन लेती है। यह जानकर कि उसका पति देवकी की हत्या के लिए प्रतिश्रुत है वह पहिले तो उसकी कठोरतम भर्त्सना करती है—"......लोभ के वश मनुष्य से पशु होगया है। रक्त-पिपासु! क्रूर-कर्मा मनुष्य! कृतघ्नता की कीच का कीड़ा,

नरक की दुर्गन्ध !........।" इस कठोर भर्त्सना के बाद भी जब वह उसे अपने संकल्पों पर दृढ़ देखती है तब वह अत्यन्त कोमलता और विनम्रता से उसके पैर पकड़कर प्रार्थना करती है और उसके विवेक को जागृत करने की चेष्टा करती है—"तुम्हारा यह झूठा सत्य है। ऐसी प्रतिज्ञाओं का पालन सत्य नहीं कहा जा सकता; ऐसे धोखे के सत्य लेकर ही संसार में पाप और असत्य बढ़ते हैं। स्वामी ! मान जाओ !" वह अपने स्वामी को मनुष्य रूप में लाने के लिए अपना जीवन तक संकट में डाल देती है और उसी सती के पुण्य से उसका पति मृत्यु से ही केवल नहीं बचता वरन् वह मनुष्यत्व को प्राप्त हो जाता है।

रामा की स्वामिभक्ति पतिभक्ति से भी अधिक उत्कट और त्यागपूर्ण है। कृतज्ञता हृदय की सात्विक अनुभूति है। इसके समक्ष समस्त व्यक्तिगत स्वार्थ तुच्छ हो जाते हैं। जिसके प्रति यह अनुभूति होती है उसका मंगल आत्ममंगल से भी अधिक अभीप्सित होता है। उसकी रक्षा के लिए कृतज्ञ अपने प्रगाढ़ स्नेही एवं पूज्य की भी उपेक्षा कर देता है।

रामा के हृदय में अपनी स्वामिनी देवकी के प्रति कृतज्ञता की सात्विक अनुभूति है। वह शर्वनाग से कहती है—"मेरे रक्त के प्रत्येक परिमाणु में जिसकी कृपा की शक्ति है, जिसके स्नेह का आकर्षण है, उसके प्रतिकूल आचरण ! वह मेरा पति क्या, स्वयं ईश्वर भी हो, नहीं करने पावेगा।" रामा की अनुभूति इतनी तीव्र

है कि वह अपने पति के प्रति पत्नी-मोह और कर्त्तव्य को भी भुलाकर देवकी से शर्वनाग की कुकर्म योजना को प्रकट कर देती है। इतना ही नहीं वह उक्त योजना को विफल करने के लिए प्राण-पण से चेष्टा करती है। वह देवकी की हत्या के लिए तत्पर शर्वनाग की भर्त्सना कर उसे उस कार्य से विरत करने की चेष्टा ही नहीं करती अपितु वह स्वामिनी की रक्षार्थ आत्मबलि देने को भी प्रस्तुत हो जाती है। ज्योंही शर्वनाग खड्ग 'उठाता है कि रामा सामने आकर खड़ी हो जाती है।' वह हत्यारों को खुली चुनौती देती है—'पहिले मैं मरूँगी, तब महादेवी।' ममत्व के इस सम्पूर्ण त्याग की प्रतिष्ठा द्वारा नाटककार ने रामा के चरित्र को पवित्र गौरव से विभूषित कर दिया है और सामाजिकों की श्रद्धा और सहानुभूति का उसे चिर अधिकारी बना दिया है। नाटक के चतुर्थ अंक में एक बार पुनः जब चिर दुखिया रामा अपने पुत्रों की हूणों द्वारा हत्या के कारण बिलखते हुए अर्धविक्षिप्त दशा में आती है तो पत्थर हृदय भी पसीज उठते हैं।

कमला

कमला, भटार्क की मां है। किन्तु उसके हृदय में वात्सल्य की दुर्बलता नहीं है। स्नेहातिरेक में सामान्य कोटि की माताएं अपने पुत्रों का इष्ट और अनिष्ट विवेक पूर्वक न विचार कर उनके प्रत्येक कार्य्य का अनुमोदन करती हैं। कमला का वात्सल्य-प्रेम

विवेक की दृढ़ भित्ति पर है। वह भटार्क के राष्ट्रद्रोही एवं अमानवीय कार्यों का तीव्र विरोध करती है। वह अपने पुत्र की वास्तविक कल्याण और पवित्र कीर्ति की अभिलाषा करती है। उसकी यह सद् आशा है कि 'पुत्र देश का सेवक होगा, म्लेच्छों से पददलित भारत भूमि का उद्धार करके मेरा कलंक धो डालेगा।' किन्तु जब भटार्क अपने कुत्सित कर्मों की अवतारणा से उसकी इस सदाशा पर कुठाराघात करता है तो वह मूक होकर नहीं बैठती, वरन् वह उसे सन्मार्ग पर लाने के लिये अपने महत्वपूर्ण पद के अनुरूप उसकी कदर्थना करती है—"तू राजकुल की शान्ति का प्रलय मेघ बन गया; और तू साम्राज्य के कुचक्रियों में से एक है। ओह! नीच! कृतघ्न!! कमला कलंकिनी हो सकती है परन्तु यह नीचता, कृतघ्नता उसके रक्त में नहीं।"

कमला का चरित्र नीतिकार की इस उक्ति को चरितार्थ करता है—'कुपुत्रो जायते कचिदपि कुमाता न भवति।' वह भटार्क के कुकृत्यों का विरोध ही नहीं करती वरन् उनका प्रतिकार करने के लिए वह उसे दण्डित कराने के लिए उद्यत भी दिखाई देती है। वह विजया से कहती है—"मेरी कोई न सुनेगा, नहीं तो मैं स्वयं इसे दन्डनायक को समर्पित कर देती।" इसके बाद ही जब गोविन्द गुप्त के हाथों भटार्क बन्दी हो जाता है तब वह सन्तोष प्रकट करती है—

"अच्छा हुआ, मैं तो स्वयं यही विचार करती थी।"

भटार्क के हृदय में मातृ-भक्ति की सच्ची भावना है। वह

अपनी माता के ओजपूर्ण व्यक्तित्व से प्रभावित है। वह उसके उपदेशों और भर्त्सनाओं को ध्यान से सुनता है। कमला भी भटार्क की विचलित मानसिक दशा में, उसके कोमल मर्म को अपनी कठोर आलोचनात्मक वाणी के तीव्र कशाघातों से प्रताड़ित कर उसे सन्मार्ग की ओर उन्मुख करने में सफल होती है। भटार्क की आँखें खोलना कमला का ही काम है। वह अपनी वास्तविक दशा का अनुभव, माता के ही सदुपदेशों से करता है और तभी यह प्रतिज्ञा उसके हृदय से निकल कर मुखरित होती है—"आज से मैंने शस्त्र-त्याग किया। मैं इस संघर्ष से अलग हूँ, अब अपनी दुर्बुद्धि से तुम्हें कष्ट न पहुँचाऊँगा।"

कमला के हृदय में असीम जीवन शक्ति है। वह भग्न-हृदयों में अपनी ओजस्विनी आशापूर्ण वाणी द्वारा उत्साह और धैर्य्य का संचार करती है। कुभा के तीव्र प्रवाह से निकलने पर स्कन्द अपने को अकेला पाने से जब अत्यंत निरुत्साहित और हताश होता है तब कमला ही उसे ढाढ़स बँधाती हुई कहती है—"कौन कहता है तुम अकेले हो? समग्र संसार तुम्हारे साथ है। स्वानुभूति जागृत करो। ········· उठो स्कन्द! आसुरी वृत्तियों का नाश करो, सोने वालों को जगाओ, और रोने वालों को हँसाओ।" कमला की वाणी में वह ओजस्विता, वह तीव्र प्रेरणा शक्ति और वह अनुभूति की वास्तविकता है कि स्कन्द की मुमूर्ष अन्तःप्रवृत्तियाँ पुनः सजग हो जाती हैं और वह कठोर कर्म क्षेत्र में साहस पूर्वक कूद पड़ता है।

कमला, उद्देश्य की महानता, चरित्र की पवित्रता और कर्तव्य की दृढ़ता से, आदर्श भारतीय माता के रूप में नाटक में चित्रित है।

देवकी

महादेवी देवकी राजमाता है। वृद्ध कुमारगुप्त की विषय-विह्वलता के कारण यद्यपि देवकी के आग्रहों का समुचित पालन नहीं होता किन्तु फिर भी वह सर्वथा उपेक्षिता नहीं है। भगवान चक्र-पाणि के पूजन के लिए जो आग्रह पूर्ण संदेश वह मुद्गल के द्वारा सम्राट् के पास भेजती है उसका सर्वथा नकारात्मक उत्तर नहीं मिलता।

महादेवी देवकी स्वयं प्रकृति से उदार, धर्मपरायण, सत्यनिष्ठ, निर्भीक और कोमल हृदय वाली है। आततायी उन्हें त्रस्त नहीं कर सकते; विपत्तिकाल में वह भगवान की करुणा का ही अवलम्बन माँगती है; वह जघन्य अपराध करने वालों को क्षमादण्ड से प्रताड़ित कर उनकी आत्मा को स्ववश करने का संकल्प रखती है तथा आत्म मर्य्यादा एवं जीवनादर्शों की रक्षा के लिए प्राणों को विसर्जित करने में भी वह पश्चात्पद नहीं दिखाई पड़ती है। अनन्तदेवी और भटार्क जो उसके सामने उसके प्राण लेने के लिए खड़े हैं उनकी दर्पमय उक्तियों से किंचित भी विचलित न होकर वह दृढ़तापूर्वक उनकी प्रत्येक बात का मुँहतोड़ उत्तर देती है। अनन्तदेवी के यह पूछने पर कि—'क्यों देवकी! राजसिंहासन लेने की स्पर्धा क्या हुई?' वह (देवकी)

उसको निर्भीकतापूर्वक उत्तर देती है—'परमात्मा की कृपा है कि मैं स्वामी के रक्त से कलुषित सिंहासन पर न बैठ सकी।' रामा अपनी स्वामिनी देवकी के स्थान पर आततायियों के हाथ आत्मबलि देने को प्रस्तुत हो जाती है, किन्तु देवकी उसकी इस बात को अपने सिद्धान्तों के विरुद्ध पाकर उसका विरोध करती है और वह उन आततायियों के हाथों स्वयं मरने को प्रस्तुत हो जाती है। वह रामा से कहती है—"शांत हो रामा! देवकी अपने रक्त के बदले और किसी का रक्त नहीं गिराना चाहती। चल रे! रक्त के प्यासे कुत्ते! चल, अपना काम कर।'

देवकी घोर विपत्तिकाल में भी अपने असीम धैर्य्य का परिचय देती हुई 'भगवान की स्निग्ध करुणा का शीतल ध्यान' करती है। वह दुःख सुख दोनों में ही अपनी प्रार्थना विश्वम्भर के श्रीचरणों में भेजती है। यह उसकी परम ईश्वर परायणता और धार्मिक मनोवृत्ति का परिचायक है।

देवकी गम्भीर स्वभाव की है। यह गम्भीरता उसके राज-मातृत्व पद के अनुकूल है। वह जिस प्रकार घोर विपत्ति में विचलित नहीं होती उसी प्रकार वह वैभव एवं सफलता के क्षणिक जीवन में मदान्ध नहीं होती। उसकी सहज उदारता उसके चरित्र का भूषण है। मालव की राजसभा में उसकी हत्या का षड़यन्त्र रचने वाले शर्वनाग, भटार्क आदि जब न्यायार्थ उसके और स्कन्द के समक्ष प्रस्तुत किए जाते हैं तब वह स्कन्द से यही कामना करती

है—"तुम्हारी माता की भी यह मङ्गलकामना है कि तुम्हारा शासन-दण्ड क्षमा के संकेत पर चला करे। आज मैं सबके लिए क्षमा-प्रार्थिनी हूँ।" निस्सन्देह देवकी की यह देवोपम उदारता विदेशियों को भी प्रभावित करने वाली है और धातुसेन भी उसकी मुक्तकण्ठ से सराहना किए बिना नहीं रहता। वह कहता है—"आर्य्यनारी सती! तुम धन्य हो इसी गौरव से तुम्हारे देश का सिर ऊँचा रहेगा।" देवकी के प्रभाव से ही समस्त षड़यन्त्रकारी बन्धनमुक्त हो जाते हैं और शर्वनाग को तो उसी की सिफारिश से अन्तर्वेद का विषयपति बना दिया जाता है।

देवकी का अधिकांश जीवन दुःखमय ही है। वह जिस प्रकार प्रौढ़ावस्था में पति की विलास प्रियता और सपत्नी की कूट-नीति से पति सुख की पूर्ण अधिकारिणी नहीं रहती उसी प्रकार पुत्र वियोग की असह्य वेदना में ही उसके प्राण जाते हैं। वह पति और पुत्र दोनों के पूर्ण सुखों से वञ्चित रहती है। पुत्र वियोग में उसका प्राणत्याग करना उसके असीम वात्सल्ययुक्त कोमल हृदय का परिचायक है। वास्तव में देवकी जैसी गम्भीर और उदार नारी सृष्टि 'स्कन्दगुप्त' नाटक में दूसरी नहीं है। वह अपने राजमातृत्व पद को अपने स्वभाव एवं आचरणों से सदैव अलंकृत करती हुई पुत्र-प्रेम में प्राणत्याग कर अयोध्याधिपति राजा दशरथ के समान अक्षय कीर्ति की भागी बनती है।